क़ैद और उड़ान

उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

नीलाभ-प्रकाशन गृह

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह
५ खुसरो बाग़ रोड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १६५०
मूल्य सजिल्द २॥।)
अजिल्द २॥)

मुद्रक
विश्वम्भर नाथ वाजपेयी
ओंकार प्रेस
इलाहाबाद

लेखक की ओर से

'क़ैद' और 'उड़ान' यों तो केवल दो नाटक हैं, (मूल-भूत-विचार की दृष्टि से तो इसे कोई एक ही नाटक के दो रुख भी कह सकता है) लेकिन इन्हें लिखने में मुझे वर्षों का श्रम करना पड़ा है।

'उड़ान' मैंने पहली बार १६४२ के अन्त अथवा १९४३ के आरम्भ में लिखा। तब इसका नाम 'शिकारी' था। और यह सात अंकों का था। इसका एक रेडियो संस्करण तब ब्राडकास्ट भी हुआ, लेकिन मैं इससे संतुष्ट न हो सका। १६४६ तक मैंने इसे कई बार लिखा। १६४६ के अन्त में, मैं इसे वर्तमान रूप देने में सफल हुआ और इसके इस रूप से मैं पूरी तरह संतुष्ट हूँ। पहले और अन्तिम रूप में कितना महान-अन्तर है, इसे दोनों मसौदों को साथ साथ देख कर ही जाना जा सकता है।

'क़ैद' मैंने १६४३ के अन्त अथवा ४४ के आरम्भ में पहली बार लिखा। मैं अखनूर गया था। वापस आया तो उसके सौन्दर्य से मन ऐसा ओत-प्रोत था कि मैंने आते ही इसे लिख डाला।

लेकिन उस पहले मसौदे में कई ऐसे अनावश्यक विवरण (Details) आ गये जिनसे नाटक का (कला की दृष्टि से) कोई सम्बन्ध न था। मेरे लिए उन्हें काटना बड़ा मुश्किल था। वे प्रसंग कुछ इतने सुन्दर और मन-मोहन थे कि उन्हें रखने का मोह मेरी आलोचना-शक्ति को कुंद कर देता।

मित्रों से भी इस मामले में अधिक सहायता न मिली। मैंने जब भी नाटक किसी मित्र को सुनाया, उसने पसन्द किया। कौन-सी पंक्तियाँ काटनी चाहिएँ, यह कोई न बता सका। हार कर मैंने इसे दराज़ में रख दिया। १६४५ तक मैंने जब जब इसे उठाया, इसका कोई न कोई हिस्सा काटा और आखिर १६४५ के अन्त तक मैंने इसे काट छाँट कर नख से शिख तक सँवार दिया।

और इस प्रकार 'क़ैद' यद्यपि पीछे आरम्भ हुआ, पर पहले समाप्त हो गया और 'उड़ान' पहले आरम्भ होकर भी बाद में समाप्त हुआ। यह एक तरह से अच्छा भी रहा, क्योंकि इन दोनों नाटकों के साथ साथ सँवारने में, मैं वह प्रभाव पैदा कर सका जो इन नाटकों द्वारा पैदा करना मुझे अभीष्ट था।

यद्यपि 'उड़ान' और 'क़ैद' रेडियो पर बड़े सफल हुए हैं; 'उड़ान' तो अँग्रेज़ी में भी ब्राडकास्ट होने जा रहा है, पर ये प्रधानतः रंग-मंच ही की दृष्टि से लिखे गये हैं। इनमें कई ऐसे अभिनय-स्थल हैं जो रेडियो के माध्यम द्वारा पूर्ण रूप से दिखाये ही नहीं जा सकते। हाँ दर्शकों के समक्ष इन्हें प्रस्तुत करने के लिए रंग-मंच ज़रा विकसित होना चाहिए। लेकिन स्वतन्त्र-भारत में ऐसा शीघ्र ही होगा, इस बात का मुझे पूरा विश्वास है।

५ खुसरो बाग रोड
इलाहाबाद
१२ जनवरी ५०

उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

अनुक्रम

गिरी तो जा गिरी पाताल के अँधेरों में,
उठी तो छोर सितारों के छू लिये तूने !

व्याख्या

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो चीज़ हृदय के बहुत निकट पहुँच जाती है, उसका परिचय देने या उसकी व्याख्या करने में क़लम हिचकिचाने लगती है, उसको सफल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं मिल पाता। कुछ ऐसा ही महसूस करता हूँ मैं 'अश्क' के इन दोनों नाटकों का परिचय देने में। कुछ ऐसा रूमानी-ख़ुमार, उड़ते हुए संगीत का सौन्दर्य और सिसकते हुए फूलों का दर्द है अश्क के इन दोनों नाटकों, विशेषतया 'क़ैद' में कि उन्हें व्याख्या की सीमा में बाँधने की तबीयत ही नहीं होती। आपके सामने इन नाटकों के प्रस्तुत करने

का कोई और तरीक़ा होता, तो शायद इनकी आत्मा के दर्द भरे सौन्दर्य की स्पष्ट झाँकी मैं आपको दिखा पाता !

फूलों और गेशाओं के देश जापान में तो ऐसी कलाकृतियों को प्रस्तुत करने का एक बड़ा ही अनोखा और कलात्मक ढंग था । मुँह-अँधेरे, तड़के-सुबह सभी अतिथि एक विशाल कक्ष में एकत्रित होते । सामने दीवार के नीले रेशमी पट पर स्वर्णखचित अक्षरों में उस कलाकृति के प्रथम वाक्य और उसकी मूल-भावना अंकित रहती। कमरे में एक नीला मखमली अँधेरा छाया रहता। थोड़ी देर बाद, बाहर किसी घोंसले में से, उनींदी कोयल की लहराती हुई आवाज आती; द्वार पर झूलती हुई लतरों में एक अनोखी सिहरन दौड़ जाती; नन्हीं कलियाँ अपनी पाँखुरियाँ खोल कर धीमे से मुस्का देतीं और वातायन से प्रभात की पहली किरण भयभीत हिरणी की तरह प्रवेश करती; वातायन से सामने की दीवार तक एक धुँधली सुनहरी रेखा खिंच जाती और रेशमी पट पर अंकित प्रथम वाक्य जगमगा उठता ! तभी नेपथ्य में धीमा प्रभाती संगीत गूँज उठता और परिचय-कर्ता उस कलाकृति का परिचय प्रारम्भ कर देता । 'क़ैद' और 'उड़ान' का परिचय देते

समय, पता नहीं क्यों मन चाहता है कि 'सूरज निकलने से कहीं पहले, नदी के नीलाभ-जल में कमल के पत्तों जैसे बड़े-बड़े सुनहरी घेरे बनते-मिटते चले जाते। इधर सूरज की पहली किरण झाँकती, उधर उस पीलाई में ललाई दौड़ जाती। ऊषा के उस पवित्र कुँवारे सौन्दर्य में, मैं आपका 'कैद' की अभागी अपराजिता की मुरझाये हुए कमल जैसी जिन्दगी से परिचय कराता, या बाँस के जंगलों पर तैरते हुए पूर्णमासी के पीले-पीले चाँद की छाया में घायल हिरणी की तरह तड़प कर चौकड़ी भरती हुई माया की कहानी आप से कहता।

लेकिन मेरे कहने का यह मतलब कदापि नहीं कि अश्क के ये दोनों पात्र, या उनको लेकर बुने गये ये दोनों नाटक सिर्फ सतरंगी कल्पना से निर्मित. यथार्थ से बहुत दूर, किसी परी-लोक के पात्र हैं और केवल उसी वातावरण में उनका परिचय मिल सकता है। ये दोनों नाटक हमारे जीवन को ही प्रतिफलित करते हैं। दोनों ही नाटकों में पुरुष और नारी के सम्बन्धों को संयोजित करने वाली आदिम-प्रवृत्तियों के बहाव, अवरोध और परिष्कार का ही सांकेतिक चित्रण है। 'कैद' में नारी बँध गयी है। अपनी आत्मा की मंज़िल और अपने सपनों के देवता से दूर, पारिवारिक बन्धनों और सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध, वह चट्टानों

पर सर पटकती हुई, पछाड़ें खाती हुई जलधारा की तरह टूट टूटकर बिखर रही है। उड़ान में वही नारी आदिम-पुरुष की हिंस्र-वासना, कवि-हृदय की अपार्थिव-उपासना और स्वामी की अधिकार-लोलुपता का निषेध करती हुई पीले चाँद की रूमानी-छाया में, यथार्थ की चट्टानों पर घायल लेकिन अपराजित उन्मुक्त हिरणी की तरह एक स्वस्थ समाधान की खोज में निकल जाती है। इस तरह 'कैद' और 'उड़ान' एक ही तस्वीर के दो पहलू होते हुए भी प्रगति-पथ की दो मंजिलों के परिचायक हैं। दोनों नाटकों में नारी की प्रगति और विकास के पद-चिन्हों की शृंखला स्पष्ट लक्षित होती है। जो नारी 'कैद' में निष्क्रिय, असमर्थ और काराबद्ध है, वह उड़ान में सक्रिय, विद्रोहिणी और अपने पथ की खोज में विकल है। इन दोनों नाटकों में कलाकार ने प्रगति के दो डग भरे हैं।

यथार्थ और प्रगति यहाँ किस रूप में है, इसका स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है। जब मैं इन कृतियों के प्रगति-तत्व का संकेत करता हूँ, तो मेरा अर्थ यह है कि किसी संकीर्ण और अयथार्थ नहीं, बल्कि एक व्यापक और यथार्थ दृष्टिकोण से ग्रहण करने पर इन नाटकों में जीवन को एक समाधान और निर्माण की दिशा मिलती है। मध्यवर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी और उसके

सहयोग से वंचित अस्वस्थ अभाव-ग्रस्त और विकृत पुरुष के सामने नाटककार एक नई पगडंडी बिछाता है; यह पगडंडी 'अखनूर' की स्वप्निल घाटियों और सतरंगी ऊँचाइयों से गुज़रती हुई, 'नाहूंग' की खूंखार लहरों को चीरती हुई, शिकारी शंकर के मन के गहरे प्यासे खड्डों से बचती हुई ऐसे समतल मार्ग पर पहुँचना चाहती है, जिसके लिए माया कहती है। "एक *आकाश में बसता है, दूसरा गहरे अँधियारे खड्ड का वासी है। मैं दोनों से डरती हूँ, ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे खड्डों या ऊँचे शिखरों से मैं ऊब गयी हूँ। मैं समतल धरती चाहती हूँ।"*

इस सन्देश से यह स्पष्ट लक्षित है कि कलाकार अपने अहम् और अपनी विकृतियों की सीमाओं में घिरा हुआ व्यक्तिवादी कलाकार नहीं। उसने समाज की यथार्थ-परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और सतत सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में नारी समस्या का निदान ढूँढ़ा है। उसके पात्रों का दुख-दर्द किसी कल्पना लोक के अतिमानव पात्रों का दुख-दर्द नहीं। उसके पात्रों के दुख-दर्द में सामाजिक व्यवस्था की विकृतियाँ बोल उठती हैं। इन दोनों नाटकों में हमें तीन प्रकार के पुरुष पात्र मिलते हैं— मदन तथा प्राणनाथ पुरुष की अधिकार भावना से परिपूर्ण दासमय-पत्नीत्व में विश्वास करने वाले हैं। (हाँ प्राणनाथ मदन की अपेक्षा अधिक संस्कृत

और इसीलिए हमदर्द है); शंकर में आदिम पुरुष की उच्छृंखल-वासना की लहक है, और दिलीप तथा रमेश में एक भावुक कल्पनाप्रवण कवि का हृदय है जो नारी को उसके बन्धनों से मुक्त नहीं कर पाता, केवल उसकी पूजा करता है। नारी पात्र भी तीन ही हैं। अपराजिता या अप्पी उस सामाजिक व्यवस्था के आगे सर झुका देती है जिसमें आर्थिक कारणों से पुरुष की अधिकार-भावना के आगे नारी को पराजित होना पड़ता है। (इसीलिए उस पराजिता नारी का नाम अपराजिता रखना भी एक मार्मिक-व्यंग ही लगता है।) वाणी पूंजीवादी युग की हल्की छिछली आधुनिका है और माया में नारीत्व विद्रोही हो उठा है—पारस्परिक सम्बन्धों का एक नया आधार ढूँढ़ने के लिए।

प्रेम के इन विभिन्न रूपों का यदि हम सामाजिक यथार्थवादी पृष्ठ-भूमि में विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि कलाकार ने इतनी रूमानी फ़िज़ा में भी यथार्थ से एक क्षण के लिए भी विछेच्द नहीं किया। उसके सभी पात्रों का व्यक्ति बाह्य व्यवस्था और परिस्थितियों से अविछिन्न है। प्रेम भावना के ये सभी रूप विकसित होती हुई सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं। पुरुष की ओर से हमें प्रेम के दो रूप मिलते हैं- एक है वासना और अधिकार भावना से पूर्ण-प्रेम, जो प्राणनाथ

में पति मदन में स्वामी और शंकर में शिकारी का रूप ले लेता है। दूसरा है रमेश और दिलीप का परम पावन, अकलुष, आत्मदानमय, पूजा भावना से भरा हुआ प्रेम! पहला अत्यन्त हिंसा-पूर्ण और आक्रामक और दूसरा सर्वथा रूमानी और निष्क्रिय।

कुछ विचारकों के अनुसार प्रेम के ये दोनों रूप हमारी वर्ग-विद्वेष वाली विकृत समाज व्यवस्था के ही अनिवार्य-परिणाम हैं। शंकर की यौन-स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के पीछे इस वर्ग-विद्वेष का एक पूरा इतिहास निहित है जैसा एँगेल्स ने अपनी पुस्तक "परिवार, व्यक्तिगत-सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति" में दिखाया है। वह कहता है—"जब इतिहास में पहले पहल एक-विवाह प्रथा प्रगट हुई तो वह स्त्री और पुरुष के समझौते के रूप में नहीं आयी....एक विवाह प्रथा का आरम्भ पुरुष द्वारा स्त्री को पराधीन बना लेने में हुआ। लेकिन इस प्रथा के प्रचलन से यौन सम्बन्धों की पुरानी स्वाधीनता पूर्णतया लुप्त नहीं हो गयी। इस सभ्यता ने जो कुछ उत्पन्न किया है, वह सब दुधारा या दोमुँहा है।" इस प्रकार एक ओर इस वर्गवादी संस्कृति ने पुरुष के हाथ में संचित सम्पत्ति के लिए एक उत्तराधिकारी पुत्र की आवश्यकता पैदा की, जिसके लिए एक धर्मपत्नी की आवश्यकता हुई और विवाह का आर्थिक आधार या कम से कम विवाह सम्बन्धों

में आर्थिक पहलू का महत्व बढ़ा, दूसरी ओर पुरुष ने स्त्री को भी मानवता की सीमा से बहिष्कृत कर एक जड़वस्तु समझा और उसकी अधिकारलोलुपता, यौन-स्वच्छन्दता और उच्छृंखल वासना दिनोंदिन बढ़ने लगी। एक ओर स्वामित्व की भावना लेकर आने वाला मदन, और किंग कॉंग की तरह अप्पी को उठा लाने वाला पति प्राण नाथ और दूसरी ओर माया को अपनी वासना का शिकार बनाने वाला शंकर दोनों ही एँगेल्स द्वारा अभिहित परिस्थिति के ही दो परिणाम हैं। वह परिस्थिति, जिसमें न केवल नारी और पुरुष वरन् सभी सामाजिक सम्बन्धों का आधार अधिकार-भावना और सम्पत्ति संचय की प्यास मानी जाती थी।

लेकिन दिलीप और रमेश की प्रेम-भावना का विश्लेषण इतना सरल नहीं। उन दोनों के प्रेम में अधिकार की बजाय आत्मदान और वासना की बजाय पूजा की प्रधानता है। किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो इस 'अलौकिक अतीन्द्रिय' प्रेम की जड़ें भी हमें अपनी समाज-व्यवस्था में मिल जायँगी। इस रूमानी-प्रेम के बीज हमें उस व्यक्ति-वादी आन्दोलन में मिलेंगे, जिसका सूत्रपात औद्योगिक-क्रान्ति और पूँजीवाद के आगमन के साथ हुआ था। जैसा एँगेल्स ने लिखा है—"यहाँ पर एक नये तत्व का प्रभाव पड़ता है...वह तत्व

है स्त्री-पुरुष का परस्पर और वैयक्तिक-प्रेम ।"
इस वैयक्तिक-प्रेम ने किस तरह रूमानी-प्रेम की शक्ल इख़्तियार कर ली ? वास्तव में पूंजीवादी युग में जहाँ जीवन और मानवता का पूंजीवादी (केवल आर्थिक) मूल्यांकन और आर्थिक परिस्थितियाँ इस प्रकार के व्यक्तिगत प्रेम में बाधक थीं, वहाँ एक और तत्व भी इस प्रकार के प्रेम की सफल परिणति में रुकावट डालता था । वह तत्व सामन्तवादी व्यवस्था का अवशेष था । वह तत्व था, पश्चिम में ऊँचे और नीचे खान्दान की समस्या और पूर्व में था, जाति-प्रथा या बिरादरी और गैर-बिरादरी का प्रश्न । इन सभी झूठे व्यवधानों और सड़ी गली रूढ़ियों के कारण ये व्यक्तिगत प्रेम एक सफल सामाजिक रूप (विवाह नहीं ग्रहण कर पाते थे और इसी विवशता ने इस अजब से रूमानी, आत्मदान-मय कल्पना-प्रवण रूप को जन्म दिया । प्रारम्भ में यह भावना यथेष्ट प्रगतिशील सिद्ध हुई । उस समय इस भावना ने साहित्य और जीवन को काफ़ी बल, उत्साह, प्रेरणा और सौन्दर्य प्रदान किया, क्योंकि यह वासना और लिप्सा पर आधारित पूंजीवादी प्रवृत्तियों से अधिक पावन और उज्जवल थी, लेकिन चूंकि इस भावना में एक समुचित सामाजिक विद्रोह और उस व्यवस्था को बदल कर अपने अनुरूप एक नयी समाज-व्यवस्था कायम करने की ललकार और चुनौती का अभाव था, अतः धीरे धीरे यह

भी एक निष्क्रिय, आत्माबद्ध, अपनी ही कल्पनाओं में सीमित, एक निष्क्रिय जीवनदर्शन मात्र बन कर रह गयी। दिलीप में जहाँ रूमानी प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था की गम्भीरता, उत्साह, सौन्दर्य और बल है, वहाँ रमेश में वह रूमानी प्रेम अपने खोखले और पतनोन्मुख रूप में आता है, जहाँ विवशता को ही पूजा और कल्पना के बहाने जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

इस प्रकार इन दोनों नाटकों के पात्रों में अश्क ने वर्तमान विकृत-समाज-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में नारी और पुरुष के सहज-सम्बन्धों में आ जाने वाली उलझनें, अन्तर्विरोध, विकार और पतन की ओर संकेत किया है। इस विशिष्ट सांस्कृतिक परिस्थिति का निदर्शन विभिन्न रूपों में इन दोनों नाटकों में किया गया है, जैसे शृंगार-कक्ष में आगे और पीछे दोनों ओर दो कद्दे-आदम आइने रख दिये गये हों और दोनों मिलकर वस्तु को पूर्णतया प्रतिबिम्बित कर दें। लेकिन 'क़ैद' और 'उड़ान' दोनों मिल कर एक गत्यात्मक स्थिति का सृजन करते हैं, समस्या को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उसे एक निश्चित लक्ष्य और एक समाधान की ओर प्रेरित करते हैं, जैसे किसी व्यक्ति का बायाँ और फिर दायाँ दोनों चरण क्रम से उठ कर उसके व्यक्तित्व को एक गति दे दें, उसे एक क़दम आगे बढ़ा दें। यही

दोनों नाटकों को एक साथ संग्रहीत करने की सार्थकता है।

इन दोनों नाटकों की सापेक्ष स्थिति मुझे तो इस प्रकार लगती है कि 'कैद' में जो चीज़ अन्दर ही अन्दर घुट रही है, मानवता की गहन पीड़ा जो 'अखनूर' की उस इन्द्रधनुषी घाटी में जलपरी की तरह सर पटक रही है, उसका विस्फोट इरावदी की तराई में (बर्मा के युद्ध में) होता है, आखिरकार किसी न किसी रूप में वे झूठी मर्यादायें, रूढ़ियाँ, परम्परायें एक भयानक ज़हरीले विस्फोट के साथ फूट पड़ती हैं, जैसे आदमीयत के सीने पर पलता हुआ एक गन्दा फोड़ा फूट जाय और मवाद बह निकले। विस्फोट में हमारी विकृतियाँ नग्न हो जाती हैं, वीभत्स हो उठती हैं और अखनूर में कैद अप्पी माया बन कर वह विस्फोट देखती है। माया के शब्दों में *"बमबाज़ी ने जहाँ उन मकानों के परखचे उड़ा दिये, वहाँ उनके वासियों की लज्जा को भी तार-तार कर दिया। जिनकी शर्म उन्हें झरोखे से झाँकने तक की आज्ञा न देती थी, उन्हें मैंने नंगे मुँह, नंगे मुँह क्या, नंगे शरीर सड़कों पर भागते हुए देखा है। मैं शर्म और बेशर्मी से ऊपर उठ गयी हूँ।"* इस तरह वह माया उस अत्यन्त वीभत्स लोक से फिर जैसे रूमान के देश में लौटती है। जहाँ कैद का प्राणनाथ (किंगकाँग) शिकारी शंकर या अधिकार-

लोलुप मदन बन चुका है और दिलीप थका हुआ कल्पनावादी रमेश की शक्ल इख्तियार कर चुका है। माया इनके बीच में आती है, ठीक जैसे न्यू-टेस्टामेण्ट बाइबल) का लाज़ार (Lazarus) मृत्युलोक से लौटा था और उसकी पथरीली निगाहों में ठण्डी ज़हरीली मौत थी और वह दुनिया की हर चीज़ के आर-पार देख कर उसकी असलीयत पहचान लेता था। माया भी अप्पी की रूमानियत और भावुकता खो बैठी है, उसमें एक निरपेक्ष विश्लेषण वृत्ति है जो हरेक के व्यक्तित्व के दुर्बल अंशों को चीरती हुई अन्दर पैठ जाती है और उसके व्यक्तित्व में भरे हुए भूसे को नाखूनों से उधेड़-कर फेंक देती है। यही 'क़ैद' और 'उड़ान' की नायिकाओं में मुख्य अन्तर है।

लेकिन साथ ही साथ यह मानना पड़ेगा कि अश्क के दोनों नाटक नायक-विहीन चाहे न हों, पर नायिका प्रधान हैं। नायक का स्थान इनमें गौण ही रहता है। नायक और अन्य पुरुष-पात्र विभिन्न रूप से प्रवेश कर नायिका के जीवन की ट्रैजेडी को ही विकसित करते हैं और उसी को हर तरह से, हर पहलू से हमारे सामने रखने का प्रयास करते हैं। हर पुरुष पात्र का प्रवेश हर नये ब्रश-स्ट्रोक की तरह है, जो ट्रैजेडी का रंग और भी गहरा करता जाता है। इसीलिए मैं तो इन नाटकों

को उन पाश्चात्य विशिष्ट दुखान्त नाटकों की परम्परा में गिनूँगा, जिनमें नायिका का भाग प्रधान होता है (शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' की भी गणना ऐसे ही नाटकों में की जाती है।)

रहा पात्रों का चरित्र चित्रन तो जहाँ तक 'कद' के पात्रों का सम्बन्ध है, उनमें से प्रत्येक में वैयक्तिक-विलक्षणता है। 'कैद' में आने वाला हरेक पात्र अपनी बोली बोलता है, अपनी जिन्दगी जीता है, ऐसा नहीं लगता कि उसने अपना रूप-रंग, अपनी वेश-भूषा, अपनी बोल-चाल, अपने भावना-विचार नाटककार की कल्पना से उधार माँगे हों। दिलीप और अप्पी पर तो काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका है, प्राणनाथ ही को लीजिए। वह मुख्य पात्र नहीं, लेकिन ब्रश के दो चार स्पर्शों और अप्पी की दो एक बातों और दो एक प्रतीकों की सहायता से अश्क ने उसका 'अपना' चरित्र अंकित कर दिया है, जो गौण होकर भी गौण नहीं रहा। वह अखनूर घाटी का रेंजर है। उसका विवाह पहले अप्पी की बड़ी बहन दिप्पो से हुआ था। अप्पी उसकी साली थी, बेहद चंचल, हँसमुख, हवाओं के झोंकों में लहराने वाली मासूम कली की तरह। वह दिलीप के प्रति स्नेह, प्यार, श्रद्धा, आदर, जो कुछ भी कहिए, रखती थी। लेकिन दिप्पो की मृत्यु के बाद उसके माँ बाप ने बड़ी बहन की गृहस्थी

सम्हालने के लिए छोटी बहन को भेज दिया, और वह प्रकाश की मंजुल दीपशिखा हमेशा के लिए निस्पन्द और मलिन हो गयी।

यहीं पर प्राणनाथ का चरित्र उभरता है। वह प्रौढ़ है, बच्चों का पिता है, उसमें एक परिपक्व सहानुभूति है और वह अप्पी के प्रति अत्यन्त स्नेह-भाव रखता है, यह जानते हुए भी कि अप्पी मनसा उसकी नहीं है। यदि वह केवल पति के 'टाइप' का ही प्रतीक होता तो वह अप्पी के प्रति उतना ही असन्तुष्ट रहता, वह उससे दुर्व्यवहार भी कर सकता था, (जैसा 'उड़ान' में मदन करता है) लेकिन नहीं, उसके संस्कारों और भावना-जगत में लेखक की गहरी पैठ है और वह अपनी तूलिका के दो चार स्पर्शों ही से प्राणनाथ के चरित्र को बहुत जीवित बना देता है और उसका अपना महत्व स्थापित कर देता है। हमदर्दी के साथ ही साथ प्राणनाथ में एक चीज़ और है जिसके प्रति अश्क के आलोचकों का ध्यान कम गया है। वह है एक प्रकार की अप-राध-चेतना (गिल्टी कान्शेन्स)। अपने हृदय के किसी अज्ञात कोने में प्राणनाथ यह अनुभव करता है कि दिप्पो के बाद अप्पी से विवाह करके उसने कोई अक्षम्य अपराध किया है, उसको इसका अधि-कार नहीं था। उसने अप्पी के प्रति एक गुनाह किया है, और उसकी इस हमदर्दी में पश्चात्ताप की भी एक गहरी रेखा मिली हुई है। लेकिन नाटक-

कार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उसने प्राणनाथ के चरित्र में इस पश्चाताप और सहानुभूति की भावना गूंथ कर उसे भी बहुत महत्वपूर्ण और महान बना दिया है।

जब गौण पात्र पर अश्क ने इतना श्रम किया है तो मुख्य पात्रों को जिस मेहनत से गढ़ा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। साधारणतया नायक और नायिकाओं के अलावा अन्य जितने भी पात्र होते हैं, उनको नाटककार इतनी सहानुभूति नहीं दे पाता और नतीजा यह होता है कि वे चरित्र भरती के मालूम पड़ते हैं। लेकिन एक नाटककार अपने नाटकों के हर पात्र को उतनी ही सहानुभूति दे और उनको उतनी ही कुशलता और सूक्ष्मता से अंकित कर सके, इसके लिए जिस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और व्यापक-सहानुभूति की आवश्यकता होती है, उसकी 'कैद' में कमी नहीं।

रहे 'उड़ान' के पात्र तो वे यथार्थ जीवन के पात्र न होकर 'पुरुष' की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं—पुरुष जो नारी को अपनी वासनाओं का खिलौना समझता है; पुरुष जो उसे देवी के आसन पर बैठाना चाहता है; पुरुष जो उसे अपनी सम्पत्ति समझता है। और इन तीन चरित्रों को अश्क ने शंकर, रमेश और मदन में बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है।

जहाँ तक शैली और रूपगठन का सम्बन्ध है, अश्क के अपने किसी पूर्ववर्ती भारतीय नाटककार की बजाय, मेतरलिन्क, स्ट्रिण्डबर्ग, ओ० नील और इसी परम्परा के अन्य आधुनिक वातावरण प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटककारों के अधिक निकट हैं। प्रसाद के बाद के नाटककारों में श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा तथा अश्क, तीन ही नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने बीसवीं सदी के पाश्चात्य नाटकों के अभिनव प्रयोगों को पूर्णतया ग्रहण करने का प्रयत्न किया। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जहाँ इब्सन की शैली अपनाई वहाँ डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इंगलैण्ड, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे तथा अन्य पश्चिम यूरोपीय देशों के नाट्य-मण्डलों द्वारा खेले जाने वाले अत्यन्त सुगठित और कथानक तथा सम्वाद की दृष्टि से चुस्त और वर्तमान जीवन के मनोरंजक पहलुओं पर हल्का सा व्यंग करनेवाले छोटे-छोटे एकाँकियों की शैली अपनाई। इतिहास तथा पुराणों के ज्ञान का उपयोग उन्होंने 'चारु मित्र 'अन्धकार' तथा 'कौमदी महोत्सव' जैसे नाटकों में किया। 'अश्क' ने, जैसा मैंने पहले कहा—एक दूसरी ही दिशा अपनाई। अर्थात् वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के चक्र में उलझे हुए मानव के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा, घायल संस्कार और प्यासी ख़ूंखार प्रवृत्तियाँ। जैसा स्वयम् उनका कहना है कि वे नाटकों में स्ट्रिण्डबर्ग जैसी गहराई और

तीखापन लाना पसन्द करते हैं, लेकिन स्ट्रिण्डबर्ग जैसी काली अन्धकारमयी निराशा से बचने का प्रयास करते हैं।

नाट्यकला की दृष्टि से 'अश्क' नाटकों के पुराने ढंग की तीन इकाइयों—समय, स्थान और अभियन की एकता का तो इतनी कुशलता से निर्वाह इन दोनों (और अधिकांश) नाटकों में कर ले गये हैं कि उनकी टेकनीक पर आश्चर्य होता है। 'कैद' का पूरा नाटक, उसी कमरे में, एक ही दिन में सम्पन्न हो जाता है और केवल इतने ही थोड़े से समय में! इतने सीमित स्थान में अश्क ने अप्पी, दिलीप, वाणी, प्राणनाथ इन चारों चरित्रों का पूरा जीवन, उनकी अन्तर्व्यथा, उन चारों की मृगतृष्णा इस सब का पूरा दिग्दर्शन कर दिया है और साथ ही केवल उसी कमरे के अन्दर के वार्तालापों से बाहर मीलों तक फैली हुई अखनूर की सुन्दरता में नहाई हुई मखमली घाटी का भी बोध करा दिया है। '*क़ैद*' *में तो इतनी सूक्ष्म पच्चीकारी और इतने विराट संकेत हैं कि उसकी गिनती हिन्दी के सबसे सफल नाटकों में की जानी चाहिये।*

अश्क की दो निजी विशेषतायें हैं जो उनके सभी नाटकों में मिलती हैं। एक तो है वातावरण-निर्माण और दूसरा संकेत-गुम्फन। पहाड़ी वातावरण, जो 'क़ैद' में बहुत रूमानी है, वह 'उड़ान' में सुन्दर होते

हुए भी कुछ कठोर, कुछ ऊबड़-खाबड़ हो गया है। सांकेतिकता अश्क के नाट्यशिल्प में बहुत ही सफलता से आयी है। नाटककार ने कहीं कहीं सम्वाद में ऐसे संकेत रक्खे हैं, जिनसे पात्रों के चरित्र का पिछला पूरा विकास, वर्तमान स्थिति, उसके अन्तर्मन के छिपे हुए संस्कार और उसकी अवचेतन प्रतिक्रियाएँ सभी झलक आती हैं। प्राणनाथ के मुँह से दिलीप का नाम सुन कर मरी मरी सी रहने वाली अप्पी का सहसा सचेत हो जाना; अपने कमरे को सम्हालने लगना; बड़े ही प्यासे मन से दिलीप के बचपन की बातें बताना; जिन बच्चों को अभी वह डाँट चुकी थी, उन्हीं को प्यार से समझा कर नहलाना-धुलाना और एकाएक प्यार करने लगना इन सब से मालूम हो जाता है कि अप्पी किस क़ैद में घुट रही है और न जाने कितने दिनों की अँधियारी क़ैद के बाद पहली बार यह "उजाले की किरण वातायन से झाँक रही है।"* कहीं कहीं यह साँकेतिकता (उसके) समानान्तर प्रतीकात्मकता का रूप ले लेती है जैसे 'क़ैद' में किंगकौंग के उल्लेख और बन्दर की घटना से प्राण नाथ द्वारा अप्पी के हरण का संकेत है। 'उड़ान' में तो पहले दृश्य के खुलते ही आहत हरिणी, और शंकर की बन्दूक जैसे पूरे

---

*"वातायन से झाँक रही है किरण चाँद की" अश्क की नयी कविता।

नाटक की कथावस्तु का संकेत करती है। बन्दूक और पक्षी के ही रूपक को लेकर रमेश और शंकर, और शंकर और माया के सम्वाद भी बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। रमेश कहता है। "*तुम इस बिखरी-निखरी सुन्दरता को भूल कर शिकार की खोज में बढ़े चले जाते हो और मैं इस सुन्दरता में खोकर शिकार को भूल जाता हूँ। यही कारण है कि मेरी गोली अपने पीछे मात्र धुआँ छोड़ जाती है और तुम्हारी एक आहत पत्नी......।*" शंकर उत्तर देता है—"*और तुम शिकारी बनने के बदले पत्नी बनने की इच्छा करते हो।*" इन रूपकात्मक संकेतों का प्रयोग इतना गूढ़ और इतना उपयुक्त है कि वह हर वाक्य को बहुत ही अर्थवान बना देता है। 'क़ैद' के अन्त में घाटियों पर बरसने वाले, धीरे-धीरे जम जाने वाले उस हिम का ज़िक्र है जो जवान नीली घाटियों को बर्फ़ीली क़ैद में जकड़ लेता है। वह हिम भी उस हिम का रूपात्मक प्रतीक है जो धीरे-धीरे अपराजिता के बन्दी दुखी मन पर आँसुओं की पर्तों जैसा जमता जा रहा है। इन संकेतों के सहारे नाटककार हमें देश और काल की गहराइयों में, मानवमन की अँधेरी गुफाओं में, अतीत के खोये हुए सौन्दर्य और भविष्य की अनजानी, बेपहिचानी ऊँचाइयों तक ले जाता है। यही अश्क के नाट्य-शिल्प की कुशलता है।

अपना लम्बा ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' लिखने के बाद अश्क ने अपने आधुनिक शैली में लिखे हुए पहले सामाजिक नाटक 'स्वर्ग की झलक' में लिखा था कि अब वैसा ऐतिहासिक नाटक लिखने को उनका मन नहीं होता। कि आज ऐतिहासिक के बदले सामाजिक नाटकों की अधिक आवश्यकता है इसलिए ज़रूरत है कि हम अतीत में भूले रहने के बजाय वर्त्तमान का चित्रण करें। न केवल यह बल्कि वर्त्तमान स्थिति की आलोचना करते हुए भविष्य की झलक भी पाठक को दिखायें।

'स्वर्ग की झलक' के बाद अश्क ने 'छठा बेटा' लिखा, जिसमें पिता-पुत्र के कर्त्तव्य को यथार्थता की कसौटी पर आँकते हुए बड़ा सुन्दर व्यंग्य-नाटक प्रस्तुत किया। लेकिन अपने उपरोक्त उद्देश्य में उस नाटक में वे उतने सफल नहीं हुए जितने वर्त्तमान दोनों नाटकों में। क्योंकि 'छठा बेटा' में भविष्य की झलक नहीं। पिता-पुत्र के सम्बन्ध भविष्य में कैसे होंगे? इसका संकेत यदि है तो इतना सूक्ष्म जिसे साधारण पाठक नहीं समझ सकता। परन्तु वर्तमान दोनों नाटकों में अश्क अपने उद्देश्य में पूर्णरूप से सफल हुए हैं—'क़ैद' वर्तमान स्थिति की बड़ी ही मार्मिक और दर्द-भरी झाँकी है। और 'उड़ान' भविष्य की झलक प्रस्तुत करता है—जब नारी चिरकाल से खोया अपना स्वत्व पायेगी और पुरुष का खिलौना, उसकी

सम्पत्ति या उसकी देवी न बनकर उसकी सहचरी बनेगी – ऐसी सहचरी जिससे वह कह सके :

"तुम हो सुभगे,
मेरी सहचरि, मेरी मंत्रिणि,
मेरे कर्म-क्षेत्र की संगिनि,
पग से पग,
कंधे से कंधा,
सदा मिलाकर चलने वाली।*

वर्तमान चूँकि सामने है, इसलिए उसका चित्रण करने में अश्क ने 'क़ैद' में बड़ी यथार्थ वादी शैली से काम लिया है। 'अखनूर' और वैशनव देवी, और चनाब और नाले के पत्थर और ऊँटों के गले में बँधी घंटियां और आमों के छिलकों से भरे बाज़ार, मैले-कुचैले वस्त्रों में आवृत्त बच्चे, अस्त-व्यस्त कमरा और ढीला-ढाला प्रौढ़ पति— सब चीज़ जानी पहिचानी लगती है। अप्पी की जगह निम्मो, कम्मो शीला, कमला ले सकती हैं और 'अखनूर' की जगह प्रयाग अथवा बनारस—स्थिति सब जगह एक सी है। लेकिन 'उड़ान' वर्तमान की नहीं, भविष्य की झलक देता है और इसलिए अश्क ने इसमें मायावी *Illusiory* शैली से काम लिया। जगह का नाम नहीं, स्थान का नाम नहीं, घर का कोई विवरण नहीं, खुली हवा है। सांझकी चाँदनी है या प्रातः का धुँधलका है ! पात्र भी यथार्थ नहीं, पुरुष की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक है ! सम्भव (probable) होते हुए भी अपने पूर्णरूप

*अश्क की कविता 'दीप जलेगा' से

के साथ यथार्थ (real) नहीं और उन प्रवृत्तियों में फँसी भविष्य की नारी है जो कैद होकर न रहेगी; मन्दिर में प्रतिष्ठित होकर पुजना पसन्द न करेगी, खिलौना न बनेगी वरन् जिन्दगी के सम-विषम मार्गों पर हाथ में हाथ दिये चलेगी।

अब रह जाती है अन्तिम बात, इनके रंगमंच निर्देशन की बात। वैसे तो हिन्दी में अभी रंगमंच की बात करना ही हास्यास्पद है, लेकिन अगली पीढ़ी में रंगमंच विकसित होगा ही, यद्यपि रंगमंच की दिशा में पश्चिम का विकास अपनाने में हमें न जाने कितना अथक प्रयास करना होगा। अभिनेयता और रंगमंच की दृष्टि से अश्क और डा० वर्मा केवल दो ही नाटककार अभी तक सफल हो पाये हैं। वैसे तो नाटक खेलने में किस प्रकार का रंगमंच अपनाया जाय, यह निर्देशक पर निर्भर है. लेकिन कम से कम 'उड़ान' के लिए प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) और 'क़ैद' के लिए वास्तु-निर्माण (*Constructvist*) शैली के बड़े ही सफल प्रयोग किये जा सकते हैं।

हिन्दी का यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि हिन्दी में इतनी सफल नाट्य-कृतियाँ केवल लिखी जाती हैं और उनके रंगमंच का कोई प्रबन्ध नहीं। रंगमंच के लिए इतने उपयुक्त नाटक भी हमें रंगमंच के विकास के लिए प्रेरित न कर सकें, कितनी लज्जा की बात है।

शुक्रवार, २ दिसम्बर १९४९ ई०

—धर्मवीर भारती

के साथ यथार्थ (real) नहीं और उन प्रवृत्तियों में फँसी भविष्य की नारी है जो क़ैद होकर न रहेगी; मन्दिर में प्रतिष्ठित होकर पुजना पसन्द न करेगी, खिलौना न बनेगी वरन् जिन्दगी के सम-विषम मार्गों पर हाथ में हाथ दिये चलेगी।

अब रह जाती है अन्तिम बात, इनके रंगमंच निर्देशन की बात। वैसे तो हिन्दी में अभी रंगमंच की बात करना ही हास्यास्पद है, लेकिन अगली पीढ़ी में रंगमंच विकसित होगा ही, यद्यपि रंगमंच की दिशा में पश्चिम का विकास अपनाने में हमें न जाने कितना अथक प्रयास करना होगा। अभिनेयता और रंगमंच की दृष्टि से अश्क और डा० वर्मा केवल दो ही नाटककार अभी तक सफल हो पाये हैं। वैसे तो नाटक खेलने में किस प्रकार का रंगमंच अपनाया जाय, यह निर्देशक पर निर्भर है. लेकिन कम से कम 'उड़ान' के लिए प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) और 'क़ैद' के लिए वास्तु-निर्माण (*Constructvist*) शैली के बड़े ही सफल प्रयोग किये जा सकते हैं।

हिन्दी का यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि हिन्दी में इतनी सफल नाट्य-कृतियाँ केवल लिखी जाती हैं और उनके रंगमंच का कोई प्रबन्ध नहीं। रंगमंच के लिए इतने उपयुक्त नाटक भी हमें रंगमंच के विकास के लिए प्रेरित न कर सकें, कितनी लज्जा की बात है।

शुक्रवार, २ दिसम्बर
१९४९ ई०

—धर्मवीर भारती

क़ैद

पात्र

अप्पी

वाणी

पार्वती

बेगां

दीशी , निम्मो

प्राणनाथ , दिलीप

हरि, व्यास, किशोर

किशनसिंह

पहला दृश्य

[अप्पी का घर अखनूर के पुरातन कस्बे में, चनाब नदी के किनारे एक पहाड़ी पर बना हुआ है। क्योंकि अखनूर का कस्बा जम्मू (कश्मीर) से अठारह मील के अन्तर पर, हिमालय की तराई में, स्थित है और अप्पी का घर उस कस्बे में सब से अच्छी जगह बना हुआ है, इसलिए उसकी खिड़कियों से नदी तथा पहाड़ों के अतीव सुरम्य और आकर्षक दृश्य दिखायी देते हैं।

पर्दा इसी घर के सोने के कमरे में उठता है और पहली दृष्टि में कमरे को देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि बाहर से घर की शान देख कर कभी कल्पना भी नहीं होती कि भीतर से यह इतना असुन्दर होगा।

परन्तु दोष इस में सम्भवतः मकान बनाने वाले का नहीं, क्योंकि यह कमरा भी यथेष्ट खुला और प्राचीन ढंग का होने के बावजूद, काफ़ी हवादार और रौशन है। सामने की दीवार में तीन दरवाज़े हैं जो आंगन के बारजे पर खुलते हैं, इन दरवाज़ों में से बारजे का जंगला, उस से परे नीला

आकाश, वैशनव देवी की तीनों चोटियाँ और हिमालय के हिम-मंडित शिखर साफ दिखायी देते हैं। बारजे से, एक ओर रसोई-घर को और दूसरी ओर स्नान-गृह तथा अन्य कमरों को जाने के मार्ग हैं। उधर से आने जाने वाले इन तीनों दरवाजों से दिखायी देते हैं।

बायीं दीवार में दो खिड़कियाँ और उनके मध्य एक अलमारी बनी हुई है, ये खिड़कियाँ नदी की ओर खुलती हैं, उनसे न केवल नदी का दिग्दर्शन किया जा सकता है वरन् प्रति-क्षण बहनेवाले शीतल-पवन का आनन्द भी लिया जा सकता है।

दायीं दीवार के परे कोने में एक दरवाज़ा है जो दूसरे कमरे को जाता है। इसके वरे को * दीवार में तनिक ऊँचे दो बड़े बड़े ताक़ बने हुए हैं। इन्हीं ताक़ों के नीचे अप्पी का पलंग बिछा हुआ है। दरवाज़ों और खिड़कियों के मध्य, दीवारों में खूंटियाँ भी लगी हुई हैं।

परन्तु इन दरवाज़ों, खिड़कियों, अलमारियों और खूंटियों के बावजूद कमरा संकरा तथा अँधेरा दिखायी देता है। पहला कारण तो यह है कि खूंटियों, ताक़ों और अलमारी के बावजूद इतनी चीज़ें एक साथ कमरे में गडमड पड़ी हैं कि कमरे का विस्तार इस अव्यवस्था में खो गया है—पता ही नहीं चलता कि यह कमरा सोने का है, खाना खाने का या नहाने का! बारजे पर खुलने वाले बायीं ओर वाले दरवाज़े के समीप मोरी और छोटा सा खुरा बना हुआ है। इस खुरे के बराबर लोटे और बाल्टियाँ पड़ी हैं। इधर

---

*इधर को = श्रोताओं की ओर को। परे = दूर, वरे = निकट,

को, बायीं दीवार के साथ अलमारी के बराबर चरखा और कातने-अटेरने का दूसरा सामान पड़ा है। अलमारी के पट किसी निर्लज्ज के संकोचहीन नयनों की भाँति खुले हुए हैं और उस के खाने टायलेट से लेकर सीने पिरोने के सामान तक, अगनित वस्तुओं से अटे पड़े हैं। उन सब पर मिट्टी की एक हल्की सी परत जमी हुई है। कोने में, मोरी के ऊपर, छत के साथ, अलगना है जिस पर रजाइयाँ और दुलाइयाँ अव्यवस्थित एक दूसरी के ऊपर टँगी हुई हैं। खूंटियाँ और ताक़ इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं से अटे पड़े हैं। अप्पी के पलंग की बायीं ओर को, कमरे के मध्य एक और चारपाई बिछी हुई है, जिस का बिस्तर आधा उलट दिया गया है। अप्पी के अपने पलंग पर बिस्तर, तकिये और चादरें रेशमी होने पर भी गन्दी और मैली कुचैली है। चारपाइयों के अतिरिक्त जो फर्श खाली है, उस में तिपाई और चन्द कुर्सियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। फर्श पर बच्चों के खिलौने बिखरे हुए हैं। इस सब अव्यवस्था ने कमरे को संकरा सा बना दिया है।

यद्यपि दिन के दस बज चुके हैं और खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द होने पर भी कमरे में काफ़ी प्रकाश फैल गया है, परन्तु अप्पी अभी तक अपने पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही है।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद बायीं ओर के दरवाज़े को पटाख से खोलते हुए निम्मो और दीशी अंधाधुंध एक दूसरे के पीछे भागते हुए आते हैं।

दरवाज़ा खुलने के शब्द से अप्पी चौंकती है, किन्तु उठती नहीं, करवट बदल कर लेटी रहती है।

निम्मो और दीशी में एक-डेढ़ वर्ष का अन्तर है। निम्मो छै वर्ष की है और दीशी आठ का, किन्तु दोनों समवयस्क दिखायी देते हैं। दोनों के कपड़े मैले और चेहरे गन्दे हैं। निम्मो के हाथ में एक गेंद है, जिसे वक्ष से चिमटाये वह दीशी के आगे आगे भागी आती है।]

दीशी : मेरा गेंद.......... दे मेरा गेंद............!

निम्मो : क्यों हम न खेलेंगे।

दीशी : तुम क्यों खेलोगी, मैं तुम्हारी गुड्डियों से खेलता हूँ।

(बल-पूर्वक गेंद छीन लेता है।)

निम्मो : मेरा गेंद........दे मेरा गेंद.........!

(दीशी को पीटती है।)

दीशी : (उत्तर में पीटता हुआ) ले यह ले...यह ले ! फिर पीटेगी,

(निम्मो रोती है।)

अप्पी : (मात्र करवट बदल कर थके, ऊबे स्वर में) अरे कोई है, इन कम्बख्तों को निकालो मेरे कमरे से बाहर, पल भर का चैन हराम हो गया इन दुष्टों के मारे। ईश्वर ऐसी सन्तान शत्रु को भी न दे !

[प्राणनाथ प्रवेश करते हैं। दोहरे शरीर के भारी-भरकम आदमी हैं, किन्तु उन्हें सुडौल और हृष्ट-पुष्ट नहीं कहा जा सकता। लगता है जैसे शरीर ने अन्यमनस्क होकर माँस छोड़ दिया है। उनकी गति में एक विचित्र प्रकार का शैथिल्य है। कपड़े भी कुछ

मैले और ढीले ढाले हैं। लगता है जैसे उनका अस्तित्व भी इसी कमरे का एक अंग है उस पर भी वही अन्यमनस्कता, अव्यवस्था और शैथिल्य छाया हुआ है।]

प्राण नाथ : (दबे स्वर में बच्चों को डाँटते हुए) जाओ बेटा भागो ! उधर जाकर खेलो ! (निकट आकर) कहो जी अभी तक लेटी हुई हो। तबीयत फिर कुछ ख़राब है आज !

अप्पी : (उसी थके थके स्वर में) यों ही सिर में हल्का हल्का दर्द है, शरीर कुछ टूट सा रहा है।

[प्राणनाथ आकर उसके समीप बैठ जाते हैं। उसके बिखरे हुए बालों पर धीरे धीरे हाथ फेरते हैं।]

प्राण नाथ : (दीर्घ-निश्वास को दबाते हुए) वह दिन कितनी खुशी का होगा अप्पो जब मैं तुम्हें स्वस्थ देखूँगा। पेट दर्द, कमर दर्द, सिर दर्द, कोई न कोई दर्द लगा ही रहता है तुम्हें।

अप्पी : अब रोग पर मनुष्य का क्या वश है।

प्राण नाथ : किन्तु जहाँ रोग है, वहाँ उपचार भी तो है। तुम्हारे रोग का तो कोई उपचार ही नहीं। काश तुम्हारे रोग की दवा मेरे पास होती।

अप्पी
निम्मो : आप......लो भला......आप......

(उठने की चेष्टा करती है पर लेटी रहती है।)

प्राण नाथ : (लम्बी साँस भरते हैं) काश मैं तुम्हें प्रसन्न रख सकता।

अप्पी : भला मुझे क्या दुख है, बड़ी प्रसन्न हूँ जैसी हूँ।

प्राण नाथ : प्रसन्न हो, (पीड़ा से मुस्कराते हैं।) प्रसन्नता का कोई

चिन्ह तो तुम्हारे मुख पर दिखायी नहीं देता, मुझे सावन की वह साँझ याद है जब दिप्पो की मृत्यु के बाद मैं दिल्ली गया था, तुम्हीं ने कुतुब चलने का प्रस्ताव किया था, मैं, कुन्तल, तुम और 'दिलीप चारों कुतुब देखने गये थे। उन दिनों कितनी प्रसन्न थीं तुम— कितनी चंचल और चपल! उन्मुक्त हवा सी तुम उड़ा करती थीं, और हँसते हँसते लोट-पोट हो जाती थीं और तुम्हारे गालों के गुलाब हर घड़ी खिले रहते थे (लम्बी साँस भरते हैं।) यहाँ आकर जाने वे क्यों मुरझा गये?

अप्पी : (चुप रहती है।)

प्राण नाथ : और मैं समझता था, यहाँ आकर उनकी लाली बढ़ जायगी। यह मन-मोहक फ़िजा, यह खुली हवा, ये फैले फैले पहाड़, यह बहता दरिया— साँझ सवेरे हम सैर को जाया करेंगे।

अप्पी : आप जाते ही नहीं, मैं कितनी बार कह चुकी हूँ।

प्राण नाथ : मैं नहीं जाता (व्यंग्य से हँसते हुए कमरे में घूमते हैं।) मैं सैर को जाया करता था जब तुम्हारी बहन जीवित थी।

अप्पी : (करवट बदल कर) आप अब भी जा सकते हैं पर आप को अवकाश भी मिले।

प्राण नाथ : अवकाश, (उसी पीड़ा-मय-व्यंग्य से हँसते हैं) तुम्हारे आने के बाद, तुम्हें शायद स्मरण भी नहीं, मैंने तुम्हारे साथ सैर को जाने का प्रयास किया था— सूरज निकलने से कहीं पहले, नदी के नीलाभ जल में कमल

के बड़े बड़े पत्तों ऐसे पीले पीले सुनहरी घेरे बनते मिटते चले जाते, इधर सूरज की पहली किरण झाँकती, उधर उस पीलाई में ललाई दौड़ जाती (खिड़की में जा खड़े होते हैं।) प्रातः के उस पवित्र, कँवारे सौन्दर्य में मन एक विचित्र-उल्लास से अभिभूत हो उठता। ऐसा लगता जैसे जगती ने पहली बार, न जाने कितनी लम्बी नींद के बाद, आँखें खोली हैं और केवल हमीं दो उस जागते सौन्दर्य को देखने के लिए पहुँच गये हैं। (अप्पी की ओर मुड़ कर) परन्तु यह मेरी भूल थी, दो नहीं उस अछूते सौन्दर्य के दर्शन करने वाला तो मैं, केवल मैं अकेला होता। तुम तो न जाने कहाँ होतीं? गुम-सुम सी बैठी, न जाने अतीत का कौन सा स्वप्न देखा करतीं, फिर मैं सैर छोड़ कर क्यों न व्यस्त रहने का प्रयास करता।

अप्पी : मुझे मेरे हाल पर छोड़िए, आप जाया कीजिए। दोशी और निम्मो को ले जाया कीजि

प्राण नाथ : दोशी और निम्मो! (पीड़ा से हँसते हैं।) अब तो कभी सैर को जाने की इच्छा ही नहीं होती, कुछ अजीब सी शिथिलता मन-प्राण पर छायी रहती है, जीवन इसी चनाब की भाँति अपना यौवन खो चुका है। क्या सूखा-सिमटा, खोया खोया सा, निःशब्द बह रहा है! जाने इस को अपने यौवन की स्मृति आती है कि नहीं (अप्पी की [illegible] की ओर आते हुए) मैं तो लगभग भूल गया हूँ। यह तो दिलीप के आने की खबर सुनकर कुछ पुरानी यादें ताजा हो गयीं नहीं...

[दीर्घ-निश्वास भर कर साथ वाल चारपाई पर बैठ जाते हैं।

दिलीप का नाम सुनकर अप्पी सहसा चौंक कर उठती है।]

अप्पी : कौन दिलीप? दिलीप भय्या क्या यहाँ आये है?

प्राण नाथ : सुना है जम्मू आये हैं।

अप्पी : (चारपाई छोड़ कर उन के निकट आ जाती है।) जम्मू! क्यों आये? आप को कैसे पता चला?

प्राण नाथ : (उसकी बात का उत्तर दिये विना अपने विचारों की रौ में) कभी कभी सोचा करता हूँ अप्पी, पिछले आठ वर्षों से मैं निरन्तर सोचता चला आया हूँ, यदि मैं तुम्हारी बहन की मृत्यु के बाद दिल्ली न गया होता तो तुम्हारी हँसी-खुशी का सोता भी यों न सूख जाता और मेरे जीवन की पहाड़ी भी यों कुहावृत न हो जाती।

अप्पी : दिप्पी बहन इतनी अच्छी थीं, उन का वियोग किसे नहीं खलता। मैं पूछती थी कि दिलीप......

प्राण नाथ : और तुम्हारी माँ ने कहा था कि अप्पो दिप्पो के दुख को तुम्हारे मन से भुला देगी। यदि वे इतना अनुरोध न करतीं तो मैं शायद कभी न मानता। कभी 'हाँ' न करता।

अप्पी : (दूसरी चारपाई का बिस्तर लपेटने लगती है।) यह आज आप क्या गड़े मुर्दे उखाड़ने लगे हैं। आठ वर्ष हो गये हमारी शादी को। अच्छी भली चली जा रही है। यदि मैं अस्वस्थ न हो जाती......

[बिस्तर अपनी चारपाई पर रखकर चारपाई उठाना चाहती है। प्राण नाथ उसकी चारपाई पर जा बैठते हैं।]

प्राण नाथ : यदि तुम यहाँ न आतीं तो कभी अस्वस्थ न रहतीं। आज दिलीप के जम्मू आने का समाचार पाकर मेरे सामने कुतुब की वही साँझ और उस साँझ की वही अप्पी घूम गयी है।

अप्पी : (चारपाई उठा कर एक ओर रखते हुए) यह आपको हो क्या गया है। छोड़िए भी इस किस्से को। देखिए मैं उठ तो बैठी हूँ। जी ठीक न था, नहीं मुझे क्या आनन्द आता है दिन दिन भर लेटे रहने में। मैं दिलीप की बात पूछ रही थी और आप...

(तिनकती हुई अलमारी ठीक करने चली जाती है।)

प्राण नाथ : अब तुम तो योंही रूठी जाती हो। मैंने कभी कुछ कहा है। मेरी ओर से आठों पहर लेटी रहो। दिलीप के आने की बात सुन कर योंही ध्यान हो आया था कि जम्मू आया है तो हो सकता है यहाँ भी चला आये।

अप्पी : (अलमारी साफ करना छोड़ कर वापस आते हुए) यही तो पूछ रही हूँ पहर भर से और आप हैं कि बात का उत्तर ही नहीं देते।

(फिर अलमारी की ओर जाती है।)

प्राण नाथ : यही तो बताने आया था, पर न जाने क्यों तुम्हें अस्वस्थ और उदास देख कर मुझे कुछ खेद सा होने लगता है।

अप्पी : अब तो मैं उठ बैठी हूँ। काम भी करने लगी हूँ। जी जब ठीक न हो तो...

प्राण नाथ : रात काशी आया है वहाँ से। कह रहा था कि दिलीप जी जम्मू आये हुए हैं। उन के तो खूब चरचे हैं वहाँ परसों उन के स्वागत में पार्टी हुई, सम्मेलन भी हुआ और वह तो कहता है, जम्मू के तीनों स्थानीय पत्रों में उन की चर्चा है।

[निम्न-लिखित संवाद में अप्पी अनजाने ही कमरे में बिखरी हुई चीजों को यथा स्थान रखने लगती है। ज्यों ज्यों वह दिलीप की चर्चा करती है, उसकी शिथिलता दूर होती जाती है और उसके काम की गति और स्फूर्ति बढ़ती जाती है।]

अप्पी : कितना सम्मान पाया है दिलीप ने और मौसा कोसा करते थे कि कुल के नाम को कलंक लगायेगा।

प्राण नाथ : बचपन में आवारा जो थे।

अप्पी : नहीं आवारा तो क्या थे, उलटे आठों पहर घर में पड़े रहते थे, किन्तु पाठ्य-पुस्तकों से उन्हें बड़ी चिढ़ थी।

प्राण नाथ : तो फिर पढ़ते क्या थे ?

अप्पी : परियों और देवों की कहानियाँ और क्या ! न जाने कहाँ कहाँ से खरीद लाते थे। मौसा जी को चिढ़ थी उन सब किस्से-कहानियों से। वे उन्हें अश्लील समझते थे और माता पिता की मृत्यु के बाद, बड़े होने के नाते वे अपने आपको अपने इस छोटे भाई की प्रत्येक छोटी से छोटी बात के लिए उत्तरदायी समझते थे। एक

बार दिलीप कुछ अस्वस्थ थे। मौसा उन्हें देखने गये तो अल्फ लैला पढ़ रहे थे। क्रोध के मारे उनकी आँखों में खून उतर आया। बाहर से तो आये ही थे, छड़ी हाथ में थी, धड़ाधड़ पीटने लगे।

प्राण नाथ : बड़े क्रूर थे तुम्हारे मौसा। मां बाप के बाद कोई पत्थर दिल ही अपने छोटे भाई को ऐसे पीटता होगा।

अप्पी : प्यार भी तो वे ही करते थे, पर संरक्षक के नाते यह भी चाहते कि पिता की अनुपस्थिति में उनका छोटा भाई बिगड़ न जाय। यदि दिलीप क्षमा माँग लेते तो उनका क्रोध शान्त हो जाता। दूध का उबाल ही तो होता था उनका गुस्सा। आया और चला गया, पर दिलीप तो मानों पत्थर के थे, टस से मस न हुए, आँखों में आँसू तक न आये। झल्ला कर मौसा ने उन्हें कान पकड़ बाहर कर दिया।

प्राण नाथ : मौसी ने नहीं रोका! बुराई तो उन्हीं की होती अपने छोटे से देवर को पिटवाने पर।

अप्पी : मौसा क्रोध में हों तो किसमें इतना साहस था कि उन के सामने जाय! पर दिलीप भी जाने किस मिट्टी के बने थे, न रोये, न चिल्लाये, जाकर नीम के तले बैठ गये। जब रात के बारह बजे मौसा बाहर से लौटे तो उन्हें कान से पकड़े साथ लेते आये। लाकर बिस्तर पर पटक दिया और बोले यह दुष्ट कुल के नाम को कलंक लगायेगा! ईश्वर की माया देखो वही कुल का गौरव बढ़ा रहे हैं।

प्राण नाथ : बड़ी कीर्ति पायी है दिलीप ने!

अप्पी : किन्तु छोड़ थोड़ी दिया था इन श्रीमान ने उन किस्सों का पढ़ना। पढ़ते रहे और बीच खेत पढ़ते रहे। एक बार माता जी ने दिलीप से मेरी बात पक्की करने को मौसी से कहा।

प्राण नाथ : (हँस कर) मौसी तुम्हें चाहती भी तो थीं।

अप्पी : मौसी तो बड़ी प्रसन्न हुई पर मौसा यह सुनते ही आग बबूला हो गये। मुझे बड़ा प्यार करते थे, बोले क्यों इस बेचारी का गला काटने के पीछे पड़ी हो तुम दोनों बहनें। जो आदमी चार पैसे कमा कर नहीं ला सकता, वह पत्नी के नाज़ क्या उठायेगा। और पिता जी मौसा से सहमत थे।

प्राण नाथ : (तनिक हँस कर) तुम्हारा क्या मत था।

अप्पी : मेरा......लो भला मैं......जैसी हूँ, बड़ी अच्छी हूँ।

प्राण नाथ : पर फिर शादी तो दिलीप ने शायद नहीं की।

अप्पी : संदेश तो कई जगह से आये, किन्तु पहले मौसा जी के विचार में उनके रंग-ढंग न बदले और फिर जब रंग-ढंग बदले तो सुना दिलीप भाई ने ब्याह ही से इनकार कर दिया।

प्राण नाथ : पर वह किसी वाणी के विषय में......कुछ भनक... कान में पड़ी थी।

अप्पी : एक वाणी क्या, बीसियों वाणियाँ उनके चरणों पर न्योछावर होने को तैयार हैं, वे किसी की ओर आँख उठाकर देखें भी। कुन्तल आयी थी तो शिकायत करती थी कि वही रंग ढंग हैं भइया के। आम लोगों की तरह रहते ही नहीं। बस काव्य और

कला की काल्पनिक दुनिया में बसते हैं......अब जम्मू क्या करने आये हैं ?

प्राण नाथ : हो सकता है किसी कवि-अवि सम्मेलन में आये हों।

अप्पी : जम्मू आ गये पर यहाँ नहीं आये।

प्राण नाथ : वे व्यस्त आदमी हैं, उनका पल पल बंधा होगा।

अप्पी : (दर्द भरे व्यङ्ग में) हाँ व्यस्त आदमी हैं !

प्राण नाथ : यही तो मैं कहने आया था कि आ न जाय यहाँ। जब जम्मू आये हैं तो यहाँ भी आ सकते हैं और घर सारा का सारा इतना अस्त-व्यस्त है...

अप्पी : (आशा-निराशा के मिले-जुले भाव से) हाँ आ गये... इस आठ वर्ष के अरसे में कितनी बार लिखा, शान्ता, कुन्तल, दीपक सब के हाथ कहला भेजा। पत्रों तक की तो पहुँच कभी दी नहीं, अब आयेंगे !

(पार्वती दरवाजे से झाँकती है।)

पार्वती : हुजूर एक साहब आपसे मिलने आये हैं। किशन सिंह उन्हें दफ़्तर में बैठा आया है।

प्राण नाथ : मैं जाता हूँ, तुम यह कमरा साफ कर दो पार्वती। लगता है जैसे अभी यहाँ भूत नाच कर गये हैं। तुम लोग करते क्या रहते हो दिन भर। जानती हो कि बहू की तबीयत खराब रहती है (जाते जाते धरती पर पड़ी एक दो चीज़ों को ठोकर मारते हैं।) उठाओ यह सब कूड़ा-करकट और साफ करो इस कमरे को।

[चले जाते हैं, किन्तु व्यङ्ग भरी हँसी के साथ कहे हुए उनके शब्द निरन्तर कान में पड़ते हैं :—]

मैं यहाँ का रेंजर हूँ, मेरे तीन तीन नौकर हैं और मेरे घर की यह दशा है।"

[पार्वती अप्पी के साथ कमरा साफ करती है। कुछ क्षण पीछे दीशी हँसता हुआ भागा आता है, निम्मो चीखती, चिल्लाती, आँधी की भाँति, उसके पीछे प्रवेश करती है।]

निम्मो : दे मेरी गुड़िया, दे मेरी गुड़िया (उसे पकड़ कर पीटते हुए) दे मेरी गुड़िया दे......दे......दे...... !

दीशी : (बराबर उसे पीटता हुआ) फिर मारेगी मुझे, ले... ...यह ले ...... यह ले ......!

अप्पी : (काम छोड़ कर) ऐ हैं...दीशी...निम्मो, यह क्या हो रहा है।

निम्मो : (सिसकते हुए) गुड़िया छीन ली मेरी।

दीशी : फिर मुझे चिढ़ाती क्यों थी ?

अप्पी : चिढ़ाती थी तो फिर क्या हुआ, तेरी छोटी बहन है अच्छे लड़के अपनी बहनों से ऐसा ही प्यार करते होंगे। तुम्हारे अंकल (UNCLE) सदा मुझे प्यार करते थे। कभी न पीटते थे।

निम्मो : (सिसकना कुछ कम कर के) श्याम अंकल ममी।

अप्पी : वे तो दीशी की तरह थे। मैं तुम्हारे दिलीप अंकल की बात कर रही हूँ।

निम्मो : (सिसकना और भी कम करके) बड़े अमीर आदमी हैं।

अप्पी : नहीं बेटी, उन का नाम बड़ा है। वे कवि हैं। देश भर में उन का मान है। जहाँ वे जाते हैं, लोग उन

के रास्ते में आंखें बिछाते हैं। अभी तुम्हारे पापा कह रहे थे कि वे जम्मू आये हुए हैं। (दीशी से) यदि वे तुम्हें देख लें दीशी तो क्या कहें ! शक्ल तो देखो कैसी भंगियों सी बना रखी है। (पार्वती से) पार्वती यह कमरा फिर साफ़ करना, पहले इसे ले जाकर नहला और इस के कपड़े बदल। ये बाल्टियाँ और लोटे उठा ले जा यहाँ से।

दीशी : (मां के इस सहसा जाग उठने वाले स्नेह से लाभ उठा कर मिनमिनाता हुआ) ममी...ई...ई...!

अप्पी : (डाँट कर) जा भी कम्बख्त (फिर सम्हल कर) जा जा, बेटा, तेरे अंकल आयेंगे तो तुझे इस तरह मैले कपड़े पहने देख नाराज़ होंगे और मिठाई न देंगे। जा...जा...मेरा राजा बेटा......!

दीशी : फिर मैं दो पैसे को बर्फी लूँगा।

अप्पी : (दांत पीसते हुए पर प्यार से) हां, हां, लेना बर्फी,

पार्वती : चलो...चलो...!

[पार्वती दीशी को ले जाती है और अप्पी निम्मो को गोदी में ले कर कुर्सी पर बैठ जाती है।]

अप्पी : (बड़े प्यार से) और क्यों निम्मो बेटा। इस तरह बड़े भाइयों से बर्ताव करते हैं !

[मां के इस आकस्मिक प्यार से चौंक कर निम्मो चुप रहती है]

—: कहो बेटा।

निम्मो : छीनी क्यों उस ने मेरी गुड़िया।

अप्पी : गुड़िया छीन ली थी तो तू मुझ से कहती, यह क्या

कि धौल-धप्पा शुरू कर दिया। यह तो चुन्नी के लच्छन हैं। मुन्नी कभी ऐसा न करती थी।

निम्मो : (स्वाभाविक औत्सुक्य से) मुन्नी कौन थी ममी ?

अप्पी : मुन्नी चुन्नी की छोटी बहन थी। कहने को वह नन्ही मुन्नी थी, पर बड़ी बहन की तुलना में इतनी चतुर, बुद्धिमती और सुशील कि सब उस से प्यार करते थे। चुन्नी दिन चढ़े तक सोयी रहती और जब उठती तो बहन भाईयों से लड़ती, पर मुन्नी बहन भाइयों से प्यार करती, माँ और दीदी के कामों में हाथ बटाती। घर तो घर, मुहल्ला भर उससे प्यार करता— अब मेरी निम्मो बेटी चुन्नी बनेगी या मुन्नी।

निम्मो : (माँ की गोदी में उछल कर) मैं तो मुन्नी बनूंगी।

अप्पी : ले फिर अपनी गुड़िया और खिलौने समेट कर रख दे ! तेरी ममी की तबीयत ठीक नहीं रहती और देख तू कमरे को कितना गन्दा कर देती है।

निम्मो : (लज्जित होकर) अभी उठा लेती हूँ।

अप्पी : (निम्मो को एक बार फिर प्यार से चूम कर) बड़ी अच्छी है मेरी मुन्नी बेटी !

किशन सिंह: (प्रवेश करते हुए) बहू जी, सरकार ने कहलाया है कि दिलीप बाबू जम्मू से आये हैं।

अप्पी : (बेटी को प्यार करना भूल कर तत्काल उसे गोदी से उतारते हुए) दिलीप आ गये.........(नौकरानी को आवाज़ देती है) पार्वती ! (और भी ज़ोर से) पार्वती !

पार्वती : (स्नानगृह से) जी बहू जी, आयी। (गीले हाथ लिये भागी आती है) जी !

अप्पी : (हर्ष भरे आवेश में) देखो दोशी को छोड़ो। उसे मैं नहलाती हूँ, दिलीप जी आ रहे हैं। तुम इस कमरे को तत्काल साफ कर डालो ! यह चारपाई हटाओ, जितनी चीजें यहाँ पड़ी हैं, सब उठा कर उधर कमरे में रख दो। नयी दरी और चादर निकाल देती हूँ। तुम कमरा झाड़ कर पलंग पर नया बिस्तर बिछा दो......सोने के लिए न जाने वे कौन सी जगह पसन्द करेंगे।

(सोचती है।)

पार्वती : बारहदरी अच्छी रहेगी।

अप्पी : हाँ बारहदरी अच्छी रहेगी। तुम जरा जल्दी जल्दी इस कमरे को साफ करके ऊपर बारहदरी को झाड़ बुहार कर उसके फर्श पर गीला कपड़ा फेर दो। फर्श पर दरी दुलाई और जाजम बिछा देना। मेज के लिए मेज-पोश और कुर्सी के लिए गद्दी मैं अभी देती हूँ।

पार्वती : (इतना काम सुनकर टालने के अभिप्राय से) पर रात बड़ी सर्दी पड़ी है पहाड़ों पर, बारहदरी में ठंड न हो।

अप्पी : तुम बारहदरी साफ करो, मैं किशन सिंह को निचली बैठक साफ करने के लिए कहती हूँ......पता नहीं वे कौन सी जगह पसन्द करेंगे......जरा किशन सिंह को आवाज दो।

पार्वती : (बारजे के दरवाजे पर जाकर किशन सिंह को आवाज देती है) किशन सिंह......किशन सिंह......!

किशन सिंह : (नीचे आँगन से) क्या बात है, चिल्लाये जाती हो।

पार्वती : बहू बुला रही हैं।

किशन सिंह: आया।

अप्पी : (पार्वती के उतरे हुए चेहरे की ओर देखे बिना बारजे पर जाते हुए) और देखो बारहदरी को साफ करके ज़रा आँगन को भी ठीक कर दो! ये झूलंगे जो कम्बख्त पड़े हैं, इन्हें कोठरियों में बन्द करो, मुर्गियों को दड़बों में ठोंसो। जगह जगह कम्बख्तों ने गढ़े खोद रखे हैं (तनिक धीमे स्वर में) और देखो दिलीप जी को फूल बहुत भाते हैं, किशन सिंह के लड़के को बेगाँ के बाग़ में भेज कर दो गुलदस्ते मँगा लो, फूलदान मैं निकाल दूँगी, एक ऊपर बारहदरी में और दूसरा नीचे बैठक की मेज़ पर लगा देना...... ज़रा भी सुस्ती से काम लिया तो देखना.........

पार्वती : नहीं बहू जी अभी भेजती हूँ किशन सिंह के छोकरे को बेगां के बाग़ में।

(बारजे पर किशन सिंह आता है।)

किशन सिंह: जी बहू जी।

अप्पी : दिलीप आये हैं किशन सिंह और मैं परेशान हूँ कि उन के लिए कौन सा कमरा ठीक रहेगा बारहदरी या बैठक।

किशन सिंह: जी......जी।

अप्पी : मैंने पार्वती से बारहदरी साफ करने के लिए कहा है, तू ज़रा नीचे बैठक के फ़र्श पर गीला कपड़ा फेर दे। तख्त झाड़-पोंछ कर साफ कर दे और मेज़पोश बदल डाल। बस अब भाग जा, तख्त की चादर और मेज़पोश मैं भेज दूँगी।

(किशन सिंह जाने लगता है ।)

— : और सुन ज़रा, उन से जाकर कहना कि दिलीप जी को कुछ देर दफ़्तर में बैठायें। इतने में ज़रा यह सफ़ाई-उफ़ाई हो जाय। यह बात बाहर बुला कर उन के कान में कहना।

किशन सिंह: जी अच्छा।

अप्पी : और देख, वहीं न बैठ रहना। आकर जल्दी से बैठक साफ करना। मैं इतने में बच्चों को नहलाती-धुलाती हूँ (निम्मो से) चल निम्मो, तू भी नहा कर कपड़े बदल। (पार्वती से) तो अब तुम जाओ और जल्दी से यह काम निबटा डालो। आया को साथ ले लो और दिलीप जी के आने तक इस जगह को बैठने लायक बना दो (जाते जाते) कुएँ से पानी और बेगों के बाग से फूल मँगाना मत भूलना।

[निम्मो को साथ लेकर चली जाती है। पार्वती चुप चाप कमरे की सफाई करने लगती है।]

(पर्दा गिरता है।)

दूसरा दृश्य

(एक घंटा पश्चात् उसी कमरे में)

[इस एक घंटे में यद्यपि इस अस्त-व्यस्त कमरे में कोई भारी क्रान्ति नहीं हो पायी, पर इस के प्रकट रूप में यथेष्ट परिवर्तन हो गया है। वस्तुओं के बाहुल्य में कमी नहीं आयी (कदाचित उन सब को दूसरे कमरे में रखने का समय नहीं मिला) परन्तु उन में व्यवस्था अवश्य आ गयी है—बिस्तर पर दूध जैसी श्वेत चादर बिछी है। तकिये का गिलाफ भी बदल दिया गया है। खिलौने ताक में चुन दिये गये हैं। कपड़ों की गठरियाँ बाँध कर अलमने पर लटका दी गयी है। बाल्टियाँ और लोटे सम्भवतः रसोई-घर या स्नान-गृह में चले गये हैं। चरखा एक कोने में धर दिया गया है। तिपाई और चार कुर्सियाँ एक ओर सजा दी गयी हैं। कुर्सियों की गद्दियां और तिपाई के कवर सब कुछ बदल दिया गया है। अलमारी की चीज़ें झाड़ पोंछ कर चुन दी गयी हैं।— तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान पर चुन दी गयी है।

पर्दा उठने पर निम्मो और दीशी पुस्तकें लिये दो कुर्सियों पर बैठे दिखायी देते हैं। निकट ही तीसरी कुर्सी पर बैठी हुई अप्पी लेस बुन रही है—लेस बुन रही है, किन्तु उस का ध्यान लेस बुनने में नहीं। रह रह कर उस की आँखें बारजे की ओर उठ जाती हैं, लेस बुनते बुनते उठ कर कभी कमरे में एक चक्कर काट लेती है और फिर बैठ जाती है।

इस एक घंटे के अल्प-समय में कमरे में चाहे कोई क्रान्ति न हुई हो, परन्तु अप्पी और दोनों बच्चों के रंग-रूप में तो एक दम परिवर्तन आ गया है। वह एक घंटा पहले की उन्मन उदास और यौवन के होते अधेड़ दिखायी देने वाली अप्पी मानों विद्युत की सी चमक और चांचल्य पा गयी है। आठ वर्ष पूर्व जिस प्रलयकारी सौन्दर्य की एक ज्वाला ने प्राण नाथ की निष्प्राण इच्छाओं में प्राण सुलगा दिये थे, उस की एक झलक इस समय अप्पी के मुख पर देदीप्यमान है।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद श्वेत सिल्क के ब्लाउज़ और हल्के आसमानी रंग की साड़ी में सचमुच अपराजिता सी बनी अप्पी साड़ी के आँचल गर्दन में लपेटती हुई बारजे के बायें दरवाज़े के पास जाकर पार्वती को आवाज़ देती है।]

अप्पी : पार्वती, दिलीप अभी आये नहीं क्या?

[और फिर उत्तर सुने बिना लौट कर कुर्सी पर जा बैठती है, किन्तु फिर उठती है और कमरे में घूमने

लगती है ; निम्मो और दीशी पुस्तकों की ओर न देख कर खिड़कियों की ओर देखने लगते है ।]

— : (प्रतीक्षा से झुँझला कर) अब अच्छे बच्चों की तरह पढ़ो बैठ कर ।

[निम्मो और दीशी फिर दृष्टि पुस्तकों पर जमा लेते हैं ।]

— : (उनके निकट जाकर नर्मी से) देखो अभी तुम्हारे अंकल आयेंगे, आते ही उन्हें नमस्कार करना और बहुत शोर न मचाना (दीशी से जो फिर खिड़की में देखने लगा है ।) क्यों रे दीशी सुना तू ने ।

दीशी : फिर मैं बर्फ लूंगा मलाई वाली ।

अप्पी : (दाँत पीसते हुए) पाजी ! (दीशी रोने के लिए ओंठ लटकाता है । तत्काल मृदुल होकर प्यार से) हाँ, हाँ लेना बर्फ, लेना बर्फ !

[प्राण नाथ और दिलीप बातें करते हुए प्रवेश करते हैं । दिलीप कवि है--तीस बत्तीस वर्ष का भावुक बेचैन और बेपरवा युवक ! उसकी गति में, बातें करने के ढंग में, पारद की सी आकुलता है । उसकी आँखों में मुख में और बालों में ऐसा आकर्षण है जो अनायास मन को अपनी ओर खींच लेता है । वह सूट पहने है, किन्तु उसकी मस्ती और बेपरवाही उसमें से फूटी पड़ती है ।]

प्राण नाथ : भला दिल्ली और लाहौर के महलों के सामने आपको अखनूर का यह घरौंदा क्या पसन्द आयेगा ।

दिलीप : मुझे तो यह नन्हा सा कसबा बेहद पसन्द आया ।

फिर जो पवित्र जल-वायु इसे प्राप्त है, वह लाहौर और दिल्ली के भाग्य में कहाँ। (अप्पी को देख कर) कहो अप्पी अच्छी तो हो।

अप्पी : नमस्कार ! आपकी कृपा है।

प्राण नाथ : ये तो जब से आयी हैं, अस्वस्थ रहती है।

दिलीप : तुम तो पहले से दुबली लगती हो अप्पी।

अप्पी : (बच्चों से) अपने अंकल को नमस्ते करो बेटा।

निम्मो : अंकल जी नमस्ते !

दीशी : अंकल जी नमस्ते !

दिलीप : (उन्हें प्यार करते हुए) नमस्ते, नमस्ते। (निम्मो को गोदी में लेकर) क्या नाम है तुम्हारा ?

निम्मो : निम्मो !

दिलीप : बेटी तो आप की बड़ी प्यारी है (दीशी से) और तुम्हारा क्या नाम है ?

दीशी : दीशी।

दिलीप : (निम्मो को गोदी से उतारते और दीशी को प्यार करते हुए) शाबाश। बड़ा अच्छा बेटा है।

(किशन सिंह संतरों की टोकरी लाता है।)

किशन सिंह : हुज़ूर यह संतरे रखे हैं।

दिलीप : और कुछ मिला ही नहीं रास्ते में..............

अप्पी : इस तकल्लुफ़ की क्या जरूरत थी।

दिलीप : मैं और तकल्लुफ़ (ठहाका लगाता है) रास्ते में बस खड़ी हुई तो एक संतरे वाला सिर पर आ सवार हुआ। बच्चों के लिये लेता आया।

[निम्मो और दीशी जाकर एक एक संतरा उठा

लेते हैं। अप्पी आक्रोश भरी दृष्टि से बच्चों की ओर देखती है और फिर संयत होकर कहती है।]

अप्पी : देखो बेटा, यहाँ न बिखेरना छिलके।

[नीचे आँगन से पार्वती की घबरायी हुई आवाज़ आती है]

पार्वती : ले गया .....किशन सिंह......किशन सिंह......वह जा बैठा मुंडेर पर।

[प्राण नाथ, दिलीप, अप्पी और बच्चे भाग कर बारजे पर जाते हैं।]

प्राण नाथ : क्या बात है ? क्या बात है ?

दीशी : (जो सब से पहले बारजे पर पहुँचता है) ममी बन्दर चादर ले गया है।

अप्पी : उफ़, ये बन्दर ! नाक में दम आ गया इन कम्बख्तों के मारे ! (बारजे के जंगले पर जाकर पार्वती को आवाज़ देते हुए) कैसे छीन ले गया पार्वती ?

पार्वती : (जो घबरायी हुई ऊपर भागी आयी है) मैं उसे तख़्त पर रख कर किशन सिंह के साथ दरी बिछवा रही थी कि उठा ले गया।

अप्पी : ठहर दीशी, इसे डराना मत, तार तार करके रख देगा चादर। जा निम्मो, भाग रसोई-घर से रोटी का एक टुकड़ा उठा ला।

(निम्मो भाग जाती है।)

प्राण नाथ : (टोकरी से एक संतरा उठाकर अप्पी को देते हुए) अरे भई यह संतरा ले लो। तब तक कहीं बराबर ही न कर दे चादर।

अप्पी : (संतरा लेकर बन्दर को दिखाते हुए) ले......ले......
पुच पुच,......बन्दर क्या है किंग कौंग है।

प्राण नाथ : किंग कौंग।

अप्पी : (पूर्ववत् बन्दर को संतरा दिखाते हुए) मैं जब भी इसे देखती हूँ, मुझे किंग कौंग की याद हो आती है।

प्राण नाथ : किंग कौंग ! किंग कौंग क्या ?

अप्पी : एक भयानक फिल्म का नाम है, जिसमें एक बन-मानस एक सुन्दर लड़की को उठाकर ले जाता है। उसी जैसा भयानक और निडर है यह भी (बन्दर से) ले...ले......पुच...पुच !

पार्वती : ऐसा दिलेर है मुआ कि सामने से उठाकर ले गया।

अप्पी : जानती हो कि यह वक्त इनकी चढ़ाई का है, फिर भी निश्चिन्त हो जाती हो।

प्राण नाथ : अरे भई, हाथ में दिखाने से क्या होगा, कुछ फेंको तो छोड़ कर जाय।

(निम्मो रोटी का टुकड़ा लेकर भागी आती है)

निम्मो : मसी यह लो रोटी।

अप्पी : [रोटी निम्मो से लेकर बंदर को दिखाती है] ले ...ले... [रोटी का टुकड़ा फेंकती है] यह ले......(दीर्घ-निश्वास लेत है) चला गया, कितना चतुर है !

प्राण नाथ : किंग कौंग, क्या नाम दिया है तुमने उसे ?

अप्पी : शी शी बेटा, जा तो ज़रा भाग कर चादर उठा ला।

दीशी : फिर मैं चिलगोज़े लूंगा दो पैसे के।

अप्पी : (उसके मरभुक्खेपन से ऊब कर) हाँ, हाँ, लेना चिल-गोज़े (जंगले पर से आँगन में किशन सिंह को डाँटते हुए)

अरे किशन सिंह, इस प्रकार तो धूल न उड़ा कि साँस लेना दूभर हो जाय।

[सब कमरे में लौट आते हैं। निम्मो अपनी कुर्सी पर जाकर पुस्तक ले कर बैठ जाती है किन्तु ध्यान उसका संतरे में है]

प्राण नाथ : (कमरे में आते हैं) अच्छा भई, तुम इनके नहाने धोने को प्रबन्ध करो, मैं जरा दफ़्तर हो आऊँ, देखो गर्म पानी......

अप्पी : पानी तो भई यहाँ नदी ही का आता है, तुम्हें कुछ संकोच हो तो कहो, हम तो पीते भी वही हैं, किन्तु तुम्हारे लिए पीने का पानी मैंने कुएँ से मंगाया है। दो मील दूर है कुआँ, वहीं से कहार लाये हैं।

प्राण नाथ : कहिए तो नहाने के लिए भी पानी वहीं से मँगा लिया जाय, हम तो फिटकरी डाल लिया करते हैं।

दिलीप : जी आप चिन्ता न कीजिए, मैं नहा कर चला था।

प्राण नाथ : अच्छा चाय वाय पिलाओ दिलीप जी को, मैं हो आऊँ दफ़्तर तक।

(चले जाते हैं।)

दिलीप : (चारपाई पर लेटते हुए) चाय मैं एक बार ही पीता हूँ, सच, पीकर चला था। अब तो बारह बजने वाले हैं।

अप्पी : (कुर्सी को चारपाई के निकट खिसका कर उस पर बैठते हुए) तुम तो इस तरह तकल्लुफ़ कर रहे हो जैसे यह किसी दूसरे का घर हो।

दिलीप : सच मैं पीकर चला था, नहीं कभी आज तक तकल्लुफ़ किया है जो अब करूंगा।

अप्पी : आज तक, मानों बीसियों बार आ चुके हो यहाँ।

दिलीप : भई मैं चाय पीकर चला था अप्पी। अब तो खाना खाने का समय है।

अप्पी : खाना भी तैयार हुआ चाहता है। घर में बड़ी अव्यवस्था थी, मैंने नौकरों को उधर लगा दिया (नौकरानी को पुकारती है) पार्वती......पार्वती...... (बारजे पर जाकर नीचे झाँकते हुए) पार्वती !

पार्वती : (नीचे आँगन से) जी बहू जी।

अप्पी : सफाई-उफाई किशन सिंह पर छोड़ो। तुम जाकर खाना पकाने का प्रबन्ध करो। वह कहार पानी लाया कुएँ का या नहीं ?

पार्वती : अभी दो घड़े दे गया है बहू जी।

अप्पी : तो बस अब झट से रसोई-घर में आग वाग ठीक करो, आटा गूँध कर रखो, फुल्के मैं आप पकाऊँगी।

दिलीप: (उठ कर उस के पास जाता हुआ) कोई ऐसी जल्दी नहीं अप्पी, मैं तो यों भी डेढ़ बजे खाने का आदी हूँ, किन्तु लारी कम्बख्त जिस मार्ग से आती है, उस में इतने हिचकोले लगते हैं कि ईश्वर ही बचावें। हज़्मों के लिए आँतों की कसरत हो जाती है। भूख लग ही आयी है।

अप्पी : (एक संतरा उठा कर छीलते हुए) तुम इतने में दो एक संतरे खाओ ! दाल भाजी तैयारहै, पार्वती जरा आटा कर दे, रोटी मैं स्वयं सेकूंगी।

[दिलीप फिर चारपाई पर जाकर लेट जाता है। दीशी आता है और चुपचाप आकर निम्मो के पास बैठ जाता है। अपना संतरा वह समाप्त कर आया है। किन्तु उस की दृष्टि निरन्तर निम्मो के संतरे पर लगी है। अप्पी आग्नेय-दृष्टि से देखती है। दीशी निगाहें पुस्तक पर जमा देता है।]

अप्पी : (कुर्सी पर बैठ कर संतरा छीलते हुए) तुम डाक लारी से नहीं आये, वह तो नहर के किनारे किनारे आती है।

दिलीप : यात्रियों ने तो कहा था नहर पर से चलने को, किन्तु ड्राइवर बोला—पुल टूट गया है, वहाँ से लारी नहीं जा सकती।

अप्पी : कोई कायर होगा, बरकत तो पैंतालीस मिनट में ले आया करता है।

दिलीप : पैंतालीस, यह तो पौने दो घंटे में लाया है और फिर ऐसे पथ से कि हड्डियाँ चटक गयीं।

अप्पी : सड़क से आयी होगी लारी।

दिलीप : उस ऊबड़ खाबड़ रास्ते को आप सड़क कहते हैं। इतने पथरीले नाले मार्ग में पड़ते हैं, पर किसी पर भी तो पुल नहीं। मैं सोचता हूँ वर्षा के दिनों में लोग कैसे आते होंगे। मुझे पहले मालूम होता तो मैं नाव में आता।

अप्पी : (अलमारी से एक प्लेट उठा कर संतरे को उस में रखते हुए) और साँझ को अखनूर पहुँचते। पेट में चूहे दौड़ने लगते, किन्तु जनाब अपनी सनक में नदी की

लहरें गिनते पुलों के ऊपर नीचे से गुजरते, चींटी की चाल चले आते।

[आँखों ही आँखों में निम्मो और दीशी संकेत करते हैं और निम्मो उठ कर ममी के पास आती है।]

निम्मो : ममी मैं जरा हो आऊँ शान्ता के यहाँ, उस की गुड़िया की शादी है।

अप्पी : आ जाना अपने आप, चुन्नी की तरह तंग न करना अपनी ममी को।

निम्मो : हाँ, हाँ, मैं आ जाऊँगी।

[निम्मो जाती है और जाते जाते दीशी को छेड़ती है।]

दीशी : मैं भी गिल्ली डंडा खेलने जाऊँगा ममी।

अप्पी : हाँ, हाँ, खेल आओ, पर आ जाइयो, जल्दी।

दीशी : (जाते हुए) हाँ, हाँ, बस जल्द आ जाऊँगा।

(निम्मो के पीछे भाग जाता है।)

अप्पी : देखो।

(दीशी बारजे पर रुकता है।)

दिलीप: तुम्हारे अंकल के साथ हम सब मिल कर इकट्ठे खाना खायेंगे।

[दीशी 'बहुत अच्छा' कहता हुआ भाग जाता है और अप्पी एक सुख की सांस दबा लेती है।]

दिलीप : कितने प्यारे बच्चे हैं,। अप्पी तुम ने तो स्वर्ग बसा रखा है।

अप्पी : (व्यङ्गमयी मुस्कान के साथ) स्वर्ग!

दिलीप : (उठ कर बैठते हुए अरमान भरे स्वर में) आठ वर्ष

बीत गये जब हमने भी एक बार ऐसा ही स्वर्ग बसाने का प्रण किया था।

अप्पी : (वैसे ही अरमान भरे स्वर में, लम्बी साँस भर कर) शताब्दियों से आठ वर्ष !

दिलीप : तुम ने अपना नन्हा सा स्वर्ग बसा लिया, पर मैं...... मैं जाने किन अग्नि-परीक्षाओं से निकल गया...... तुम्हारा एक घर है, पति है, बच्चे हैं और मैं......मैं......

अप्पी : स्वतन्त्रता की आग में जल कर कुन्दन बन गये तुम और न टूटने वाली बेड़ियाँ मेरे पावों में बँधती चली गयीं।

दिलीप : (आश्चर्य से) बेड़ियाँ........ अप्पी......तुम प्रसन्न नहीं हो !

अप्पी : मैं संतुष्ट हूँ।

दिलीप : भाई साहब कहते थे तुम अस्वस्थ रहती हो।

अप्पी : मुझे तुम अस्वस्थ दिखायी देते हो।

दिलीप : मैं तो अच्छा भला हूँ। केवल यात्रा के कारण कुछ थक सा गया हूँ।

अप्पी : (मानो दूसरे संसार से बोल रही है।) मुझे भी ऐसा लगता है जैसे मैं एक लम्बी यात्रा तय करके आयी हूँ और थक गयी हूँ (हँस कर) पर छोड़ो इस किस्से को। थके हुए हो, आराम करो।

दिलीप : पर भई मैं कपड़े तो बदल लूँ।

अप्पी : मैंने तुम्हारे ठहरने का प्रबन्ध ऊपर बारहदरी में भी किया है और नीचे बैठक में भी। तुम्हें जो स्थान

पसन्द आये, वहाँ तुम्हारा सामान रखवा दूँ।

दिलीप : सामान ही कौन सा है, बस यही कपड़े हैं, कोई धोती या पायजामा दो तो इन्हें बदल डालूँ।

अप्पी : तो चलो ऊपर बारहदरी में जगह पसन्द कर लो। धोती निकाले देती हूँ। मैं तो तुम्हारे आने की आशा ही खो बैठी थी। प्रातः सुना, तुम जम्मू आये हो, सोचा, शायद इधर भी आ निकलो, सो जल्दी जल्दी बारहदरी ठीक करायी। बैठक ठीक हो रही है। चलो पहले बारहदरी देख लो।

दिलीप : बारहदरी, वाह !

(उठ कर चलता है।)

अप्पी : (उसके साथ साथ चलते हुए) किन्तु दरवाजों के बदले उसमें केवल बारह खिड़कियाँ हैं, ईश्वर के लिए खोल कर न बैठना। ये दुष्ट बन्दर इतने निडर हैं कि ज़रा आँख उधर हुई और ये कुछ न कुछ ले उड़े।

दिलीप : (ठहाका मारता है।) किन्तु फिर खिड़कियों का लाभ ही क्या है।

अप्पी : (हँस कर) निचले किवाड़ों में जालियाँ लगी हैं, आधी खिड़कियाँ हर समय खुल सकती हैं।

(दोनों बारजे के दरवाजे में होते हैं कि पर्दा गिरता है।)

———

तीसरा दृश्य

(दो घंटे बाद उसी कमरे में)

[कमरा और भी सुन्दर और सुव्यवस्थित लगता है। कपड़ों की गठड़ियां, अलगने के कपड़े और दूसरी निरर्थक वस्तुएं भीतर कमरे में पहुँचा दी गयी हैं। किशन सिंह चरखा दूसरे कमरे में ले जा रहा है, जब पार्वती प्रवेश करती है।]

पार्वती : अब उठा भी चुको इस सब सामान को किशन सिंह ! नीचे आंगन में कम्बख्त मुरगियों ने प्रलय मचा रखा है, उन्हें दड़बों में बन्द करना है और ......

किशन सिंह : बस, यह चरखा रह गया है, बाकी सब चीजें तो मैंने उठा दी हैं, देखो तो कमरे का क्या रूप निकल आया है।

पार्वती : बहू जी इधर आने वाली हैं, अब चल कर आंगन...

किशन सिंह : (चरखे को वहीं धरती पर टिका कर) बस अभी जाता हूँ (धीमे स्वर में) बहू जी का रंग चमक आया है,

इन दो घड़ियों में! वह सदा की पीलाहट ढूँढे से भी नहीं मिलती। दिलीप बाबू अच्छे आये हैं। घर की, बहू जी की, बच्चों की, सब की काया-पलट हो गयी है।

पार्वती: (उसी प्रकार धीमे स्वर में) यहाँ आने से पहले इन्हीं के साथ चल रही थी, बहू जी की बात चीत, पर दिप्पी बहू (नाम-मात्र से आंखों में आँसू आ जाते हैं। धोती के छोर से आंखे पोंछती है।) बच्ची को छोड़ कर चल बसी और दुहती के विचार से नानी ने इन को यहाँ ब्याह दिया।

किशन सिंह: धन दौलत का भी तो विचार होगा।

पार्वती: हाँ, अपनी आग पराये क्यों सेकें.........?

किशन सिंह: पर न वह धन-दौलत रही न दुहती, और बहू—बन्दी हो गयीं इस सूने-एकान्त में। मैं तो जब भी उन्हें देखता हूँ। मुझे सदा उन पर दया हो आती है। कहाँ दिल्ली और कहाँ यह अखनूर। भाग्य ही है न, कहाँ से कहाँ ला पटका।

पार्वती: क्यों, उन्हें किस बात की कमी है! अब भी भगवान की कृपा से हज़ारों लाखों से अच्छे हैं। भानजी मर गयी तो क्या हुआ। ईश्वर अपना बच्चा बच्ची बनाये रखे।

[बाहर बारजे पर दिलीप और अप्पी के बातें करने की आवाज़ आती है।]

दिलीप: अरे भई क्यों कांटों में घसीटती हो अप्पी, इतना

मज़ेदार था खाना।......मुझे तो जैसे युग बीत गये हैं ऐसा खाना खाये।

पार्वती : (धीमे स्वर में) उठाओ चरखा और भागो ! वे इधर ही आ रहे हैं।

[किशन सिंह चरखा उठा कर दायें दरवाज़े से निकल जाता है और पार्वती उस के पीछे चली जाती है। बायें दरवाज़े से दिलीप और अप्पी बातें करते हुए, वेश करते हैं।]

अप्पी : क्या करूं, यहाँ कोई नयी चीज़ मिलती ही नहीं, वही निगोड़ी मूली गाजरें और वही मुआ कड़म का साग (जाती हुई पार्वती से) पार्वती ज़रा पानदान उठा लाओ ! मैं पान बना हूँ दिलीप जी के लिए।

पार्वती : जी अभी लायी बहू जी।

दिलीप : (जाकर चारपाई पर लेटते हुए) यह कड़म का साग क्या बला है। हमने तो कभी नहीं चखा।

अप्पी : (उस के पास कुर्सी पर बैठ कर फिर लेस बुनते हुए) चख लेना, साँझ को पका लेंगे। कोई ऐसी सौगात की चीज़ तो है नहीं, तुम्हें क्या पसन्द आयगा। तुम बड़ी बड़ी दावतें खाने के अभ्यासी। मैंने जब से सुना, तुम आ रहे हो, निरन्तर तरकारियों ही की बात सोच रही हूँ। मोटर ड्राइवर से कहला भेजा है कि जम्मू से आता आता कुछ सब्ज़ियाँ और फल लेता आय।

दिलीप : अरे भई तुम खामख्वाह परेशान होती हो अप्पी। तुम कल्पना ही नहीं कर सकतीं मुझे रसोई-घर में

खाना खाकर कितना आनन्द मिला है। दस्तर-ख्वानों और डाइनिंग टेबलों पर खा खा कर तो जी ऊब उठा है। रसोई-घर में, चूल्हे के आगे तुम्हारे सामने बैठे हों, तुम रोटी पकाओ, हम खायें—मुझे आशा न थी कि जीवन में फिर कभी यह सौभाग्य मिलेगा।

अप्पी : मुझे तो भूल ही गया सब कुछ, अब तुम्हारे आने पर जैसे सदियों बाद आज चौके में गयी हूँ।

दिलीप : (बैठ कर) किन्तु तुम्हारे खाने में मिठास तो पहले से भी अधिक है अप्पी, यदि मुझे मालूम होता कि खाना पकाने में तुमने इतना अभ्यास कर लिया है तो जैसे भी होता, चला आता।

अप्पी : तुम आये ही नहीं, बीसियों बार हम ने बुला भेजा।

दिलीप : (उस की ओर देखता है, मानो उस की आंखों में डूब कर उन की थाह पाना चाहता है, फिर दीर्घ-निश्वास लेता है।) अरे भई, तुम आ बैठीं यहाँ काले कोसों दूर। कहाँ दिल्ली आगरा और कहाँ रियासत जम्मू और कश्मीर, और फिर उस में भी यह दूरस्थ गाँव जैसा कस्बा, जिसे ढब की एक सड़क भी तो प्राप्त नहीं।

अप्पी : आ बैठी। (पीड़ा से मुस्काती है।) जैसे स्वयं उठ कर आ बैठी यहाँ। हम गरीबों का क्या है, माता पिता ने जहाँ बैठा दिया, जा बैठीं।

(पार्वती पानदान लेकर आती है।)

पार्वती : लीजिए बहू जी।

अप्पी : लाओ । और जाकर देखो वह किशन सिंह का लड़का गुलदस्ते लाया है या नहीं ।

[दिलीप उठ कर बारजे के बीच वाले दरवाजे में जा खड़ा होता है । अप्पी चारपाई पर बैठ कर पान बनाने लगती है ।

दिलीप : (कुछ क्षण दूर पहाड़ों को देखता रहता है, फिर सुख की लम्बी साँस भर कर मुड़ता है) कुछ भी हो अप्पी, यदि मैं जानता, तुम इतनी सुरम्य जगह रहती हो तो यात्रा की समस्त कठिनाइयों को भूल कर उड़ा चला आता । (खिड़की के पास जा खड़ा होता है ।) कितना आकर्षक और मन-मोहक स्थान है यह ! (बारजे की ओर संकेत करते हुए) वे तीन ओर अर्ध-चन्द्राकार सा घेरा बनाते हुए पहाड़ और यह चौथी ओर अपनी धुन में मस्त, सोया सोया सा बहता चनाब ।

अप्पी : (उसके पास जाकर उसे पान की गिलौरी देते हुए) तुम कहीं गर्मियों में आते तो चनाब की बहार देखते। सोया, सोया, अफीमी सा दिखायी नहीं देता उन दिनों । सहस्त्र फनों वाले शेष नाग की भांति फुंकारता हुआ बहता है । पुल काँपने लगता है । तट की पहाड़ी पर बने हुए ये घर तक थरथराने लगते हैं । उन्हीं दिनों यहां चहल पहल भी होती है, आस पास के गांवों से इतने आम आते हैं और लोग इतने आम चूसते हैं कि छिलकों से बाज़ार अट जाते हैं । जम्मू तो क्या, स्यालकोट और गुजरांवाले तक से लोग

यहाँ आते हैं, आधी रात तक बाज़ारों में शोर होता रहता है।

[दिलीप जाकर चारपाई पर लेट जाता है और अप्पी कुर्सी खिसका कर पहले की भाँति उसके पास बैठ जाती है।]

दिलीप : शोर दिल्ली में कम नहीं होता, गयी रात तक ट्रामें घड़-घड़ाती हैं और फिर मोटरें, बसें, कारें, ताँगे, छकड़े, इतना हो-हल्ला मचा रहता है कि जी चाहा करता है, कहीं भाग जायं, कहीं ऐसी जगह, जहाँ इतना कोलाहल न हो, इतनी आवाज़ें न हों, ठहरे हुए सागर का सा मौन हो, कुछ ऊंघता हुआ सा, सोया सोया सा, स्वप्निल वातावरण हो ! तुम्हें मैंने वह कविता सुनायी थी न 'लोटस ईटर्ज़'।

अप्पी : (दुख की लम्बी साँस लेकर) मैं यहाँ आकर सब कविताएं भूल गयी हूँ।

दिलीप : (उठ कर बैठ जाता है) अरे भई, वही टैनिसन की, जहाँ ओडिसस के साथी जलयान के विध्वंश पर एक ऐसे द्वीप में जा पहुँचते हैं, जहाँ एकान्त है, मौन है, सुख और शाँति का साम्राज्य है। (उठकर कमरे में घूमने लगता है।) उस द्वीप की सोयी सोयी सी मन-मोहक सुन्दरता को देख कर, वे चाहते हैं कि वे वहीं के हो रहें, निरन्तर संघर्ष से थके अपने अंगों को अनवरत विश्राम दें, कमल के फूल खाते रहें और निश्चिंत सोते रहें (अप्पी के निकट आकर) कभी कभी मेरा मन भी ऐसे ही किसी द्वीप में जा पहुँचने

को आकुल हो उठता है। यहाँ अखनूर में आकर लगता है कि मैं उसी द्वीप में पहुँच गया हूँ, जीवन यहाँ जैसे शाश्वत नींद में सोया हुआ है।

[फिर लेट जाता है। कहीं साथ की गली में स्त्रियों के झगड़ने की आवाज़ आती है, जिसमें पुरुषों की आवाज़ें भी सम्मिलित हैं।]

अप्पी : हो-हल्ला और लड़ाई झगड़ा तो यहाँ भी होता है देखो नीचे गली में कैसा कोलाहल मचा है।

दिलीप : (करवट लेकर अप्पी के निकट होते हुए कोहनी के बल लेटे लेटे) तुम शायद दिल्ली के शोर को भूल गयी हो अप्पी, दुनिया के इस शान्त कोने में पहुँच कर तुम्हें शायद आभास ही नहीं रहा कि कोलाहल होता कैसा है। मैं तो जब से आया हूँ, निरन्तर यह अनुभव कर रहा हूँ कि जीवन यहाँ शाश्वत नींद में सो रहा है, यह हो हल्ला, ये झगड़े-झाँझे तो केवल उसके मीठे मीठे ख़र्राटे हैं।

अप्पी : क्यों दिलीप काले पानी में भी तो ऐसी ही शान्ति और मौन होता होगा।

दिलीप : (फर उठ कर बैठ जाता है) काला पानी !

अप्पी : मुझे कभी कभी ऐसा लगता है जैसे यह अखनूर मेरा काला पानी है और मैं यहाँ आजीवन बन्दी बना दी गयी हूँ।

दिलीप : (उसकी आंखों में देखते हुए) तुम प्रसन्न नहीं हो अप्पी।

अप्पी : (पीड़ा मयी मुस्कान से) मैं सन्तुष्ट हूँ।

दिलीप : (उठ कर कमरे में घूमते हुए दार्शनिक भाव से) यह सारे का सारा जीवन एक काला पानी है अप्पी, ग़ालिब ने ठीक ही जीवन को 'कारा' का नाम दिया है ("क़ैदे-हयातो-बन्दे-ग़म" ❀ गुनगुनाते हुए खिड़की के पास जा खड़ा होता है) यह इतना सौन्दर्य, यह भी तो शायद स्वतन्त्र नहीं, समय के बन्धन में ग्रसित है और यह आत्मा, जिसे लोग स्वतन्त्र कहते हैं, तन की कारा में बन्द रहती है और तन जीवन की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है—इन जंजीरों से मुक्ति नहीं, एक बेड़ी से निकल कर दूसरी में और दूसरी से निकल कर तीसरी में फँसना अनिवार्य है—सदा अज्ञात, अदृश्य बेड़ियाँ आत्मा को, शरीर को, सौन्दर्य को, जीवन को जकड़े रहती हैं।

(फिर आकर चारपाई पर बैठ जाता है।)

अप्पी : तुम सदैव काव्य के जगत में घूमोगे, स्थूल जगत की बात तुम कभी न करोगे।

दिलीप : मैं सोचता हूँ कि जब किसी तरह भी इस कारा से मुक्ति नहीं, हर हाल में यह अपरिहार्य अनिवार्य, है तो क्यों इसकी चिन्ता की जाय ! काट सकें तो इन जंजीरों को काटा जाय, नहीं तो क्यों न इन में जकड़े जकड़े इन्हें भुलाया जाय।

❀ "क़ैदे-हयातो-बन्दे-ग़म असल में दोनों एक हैं, मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाये क्यों" ? अर्थात् जीवन की क़ैद और दुख का बन्धन वास्तव में एक ही चीज़ है, इसलिए मौत से पहले आदमी दुख से कैसे मुक्त हो !

अप्पी : तुम कवि हो और मैं तुम से बातों में नहीं जीत सकती।

दिलीप : किन्तु तुम भी तो कवियित्री थीं और सदा मुझ से बातों में जीत जाया करती थीं।

अप्पी : मैं जान गयी हूँ, जीत कर भी तुम हार जाया करते थे, और मेरी तुकबन्दियों पर भी सिर धुना करते थे।

[धागा समाप्त हो जाता है, जाकर अलमारी से और धागा लाती है।]

दिलीप : (उसके पीछे जाता हुआ) कितने अच्छे थे वे दिन!

अप्पी : तुम्हें तो कभी याद भी न आती होगी उनकी।

दिलीप : (मन के भावों को छिपाने के प्रयास में बारजे की ओर जाते हुए) सच कहता हूँ, यदि वह याद न रहती तो घुमक्कड़पने की ये बेड़ियाँ मेरे पावों को यों न जकड़े रखतीं।

अप्पी : (उसके पीछे जाते हुए सहानुभूति, पीड़ा और स्नेह के भाव से) दिलीप!

दिलीप : (संयत होते हुए तनिक हँस कर) देखो, तुम्हारा किंग काँग फिर ताक लगाये बैठा है।

[अप्पी दिलीप के बिल्कुल निकट जाकर उसकी आँखों में कुछ खोजने का प्रयास करती है, पर दिलीप बन्दर की ओर देख रहा है। एक दीर्घ-निश्वास ले कर वह भी उधर देखने लगती है। उसका स्वर और उसकी भंगिमा एक अजीब से दर्द से अभिभूत हो उठती है।]

अप्पी : किंग काँग......(मुस्काती है) तुम्हें याद है न हम, एक बार किंग काँग की फिल्म देखने गये थे। मैं उस लड़की को नहीं भूल सकी जिसे किंग काँग उठा कर ले गया था। (दीर्घ निश्वास लेती है।) वह मुक्त हो गयी थी। पर मैं ......

(बाहर से प्राणनाथ की अवाज़ आती है।)

प्राण नाथ : अरे भाई, किधर हो।

(भीतर प्रवेश करते हैं, हाथ में मिठाई का दोना है।)

दिलीप : आइए भाई साहब, यह क्या लाये हैं ?

प्राण नाथ : (भीतर आते हुए) यहाँ मिलता ही क्या है, मैंने कहा, मुँह मीठा करने के लिए थोड़ी मिठाई ही लेता चलूँ।

दिलीप : (उनके पीछे आते हुए) अरे भाई साहब इसकी कुछ कमी रह गयी थ, गाजर का हलुवा तो खाया था।

अप्पी : (उनके पीछे आते हुए दिलीप की बात काट कर) काली गाजर का हलुवा भला क्या पसन्द आया होगा।

दिलीप : (हँसते हुए) वह किसी उर्दू शायर ने कहा है न "हुस्ने सूरत पर न जाओ...... (प्राणनाथ दोनो को तिपाई पर रख कर जाने लगते हैं।) अरे भाई साहब, आप किधर जा रहे हैं, बैठिए न।

प्राण नाथ : नहीं भाई दफ्तर में काम है। फारेस्ट ऑफीसर आने वाले हैं।

अप्पी : (चारपाई पर बैठते हुए) ज़रा जल्दी आइएगा, तनिक घुमा लायेंगे दिलीप भाई को पास के गाँव तक।

प्राण नाथ : कोशिश करूँगा, न आ सका तो तुम लोग हो आना।
(चले जाते हैं!)

दिलीप : भाई साहब का स्वास्थ्य तो पहले से कहीं अच्छा है।

अप्पी : फूल गये हैं, नहीं रोग तो अन्दर लगा हुआ है।

दिलीप : ये इन के दाँत किस तरह के हैं, ऊपर की पंक्ति सफेद और निचली पीली।

अप्पी : दोनों पीली थीं, पायोरिया था। ऊपर की नकली लगवायी है, निचले भी निकलवाने के लिए जोर दे रही हूँ, पर मानते नहीं। अपने स्वास्थ्य का कुछ ध्यान ही नहीं रखते।

दिलीप : पर पायोरिया तो बड़ा भयानक रोग है।

अप्पी : ('अब हटाओ भी इस ज़िक्र को' के से भाव से) मानें भी!

[एक बन्दर तेज़ी से आता है और मिठाई का दोना ले जाता है।]

दिलीप : (बेतरह चौंक कर) अरे......रे......रे......वह ले गया मिठाई का दोना। शायद उसी समय से ताक लगाये बैठा था।

(उठ कर आँगन के दरवाज़े में जाता है।)

—: वही है किंग काँग। किस मज़े से जा बैठा है मुँडेर पर।

अप्पी : (वहीं चारपाई पर बैठे बैठे) किंग काँग से मैंने कब का समझौता कर लिया है।

दिलीप । (दरवाज़े की चौखट में खड़े खड़े दूर पहाड़ों को देखते हुए) ये सामने के गेरवे पहाड़ों पर मेघ-बालों के

साये कितने सुन्दर दिखायी देते हैं। लगता है, जैसे एकान्त स्थान पाकर यहीं सो गये हैं और ये चितकबरी पहाड़ियाँ लेटी, सोयी, अर्ध-तन्द्रिल सी अवस्था में ऊँघती सी कैसी भली लग रही हैं। मैं यदि यहाँ रह जाऊँ तो न जाने कैसी अद्वितीय रचनाओं की सृष्टि कर दूँ।

अप्पी : (आशा और निराशा से) रह गये तुम!

[कटाक्ष से उसक ओर देखती है। नीचे गली से ऊँटों के गले में बँधी हुई घंटियों की ध्वनि आती है।]

दिलीप : कितनी शान्त और नीरव है यह दुपहरी। यह नीचे गली से गुज़रने वाले ऊंटों के गले में बँधी घंटियों का स्वर कैसा प्यारा लग रहा है।

(कबूतरों की गुटरगूं का स्वर आता है।)

— : यह बाज़ार से आने वाला मध्यम सा कोलाहल और यह जंगली कबूतरों की गुटरगूं।

(बन्दरिया के बच्चे की 'कूं कू'' की ध्वनि आती है।)

— : किन्तु यह 'कूं कूं' की आवाज़ जाने किस पक्षी की है।

अप्पी : (उठ कर हँसती हुई खिड़की के पास जाती है) पक्षी की नहीं यह बन्दरिया के बच्चों की आवाज़ है।

दिलीप : (उस के पास आता हुआ) कहाँ हैं ये बन्दरिया के बच्चे?

अप्पी : वह देखो, उधर छत पर। कैसी कूट कूट कर चंचलता भरी हुई है इन में! वह देखो, वह बन्दर कम्बख्त

किस मज़े से लेटा हुआ है और वह बन्दरिया किस स्नेह से उस के शरीर को सहला रही है।

दिलीप : मन चाहता है, इसी तरह दोपहर की मीठी धूप में लेट जाऊं और कोई मेरे शरीर को धीरे धीरे सहलाये।

अप्पी : तुम कब चाहते हो। तुम ने कभी नहीं चाहा।

(लम्बी साँस भरती है।)

दिलीप : कितने चंचल और चपल हैं ये बन्दर और इनके बच्चे।

अप्पी : सब प्रकार के बंधनों से मुक्त!

दिलीप : जीवन के बंधन में तो ये बंधे हैं, किन्तु इन्हें इसका दुख नहीं, शायद इसकी अनुभूति भी इन्हें नहीं।

अप्पी : यह अनुभूति का काँटा मनुष्य ही के भाग्य में क्यों है। यह अनुभूति कुंठित क्यों नहीं हो जाती, मर क्यों जाती?

दिलीप : (लम्बी साँस को भीतर ही दबाते हुए) मर भी जाती है मनुष्य की अनुभूति।

(आकर चारपाई पर बैठ जाता है।)

अप्पी : (उसके पीछे पीछे आते हुए) मर कर भी जी उठती है। मैं घंटों इन बन्दरों को स्वतन्त्रता से कूदते फाँदते, कुदक्कड़े मारते, कलाबाज़ियाँ लगाते, पेड़ों की शाखाओं से लटकते झूलते देखती रहती हूँ। यहाँ तक कि अपनी क़ैद की यह अनुभूति सहस्र गुणा होकर मेरी नस नस में जाग उठती है। कभी ऐसा लगता है कि जैसे शरीर की समस्त शिराओं में कुछ सुलगने सा

किस मज़े से लेटा हुआ है और वह बन्दरिया किस स्नेह से उस के शरीर को सहला रही है।

दिलीप : मन चाहता है, इसी तरह दोपहर की मीठी धूप में लेट जाऊं और कोई मेरे शरीर को धीरे धीरे सहलाये।

अप्पी : तुम कब चाहते हो। तुम ने कभी नहीं चाहा।

(लम्बी साँस भरती है।)

दिलीप : कितने चंचल और चपल हैं ये बन्दर और इनके बच्चे।

अप्पी : सब प्रकार के बंधनों से मुक्त!

दिलीप : जीवन के बंधन में तो ये बंधे हैं, किन्तु इन्हें इसका दुख नहीं, शायद इसकी अनुभूति भी इन्हें नहीं।

अप्पी : यह अनुभूति का काँटा मनुष्य ही के भाग्य में क्यों है। यह अनुभूति कुंठित क्यों नहीं हो जाती, मर क्यों जाती?

दिलीप : (लम्बी साँस को भीतर ही दबाते हुए) मर भी जाती है मनुष्य की अनुभूति।

(आकर चारपाई पर बैठ जाता है।)

अप्पी : (उसके पीछे पीछे आते हुए) मर कर भी जी उठती है। मैं घंटों इन बन्दरों को स्वतन्त्रता से कूदते फाँदते, कुदक्कड़े मारते, कलाबाज़ियाँ लगाते, पेड़ों की शाखाओं से लटकते झूलते देखती रहती हूँ। यहाँ तक कि अपनी क़ैद की यह अनुभूति सहस्र गुणा होकर मेरी नस नस में जाग उठती है। कभी ऐसा लगता है कि जैसे शरीर की समस्त शिराओं में कुछ सुलगने सा

लगा है, और कभी ऐसे कि शरीर की प्रत्येक स्पन्दित शिरा मानों बुझी हुई भीगी लकड़ी की भाँति निर्जीव हो गयी है।

दिलीप : (सहसा उठ कर अप्पी को दोनों कंधों से पकड़ कर तनिक झँझोड़ते हुए) अप्पी तुम प्रसन्न नहीं हो।

अप्पी : मैं सन्तुष्ट हूँ!

दिलीप : (और भी जोर से झंझोड़ते हुए) तुम सन्तुष्ट भी नहीं हो!

अप्पी : संसार में कौन प्रसन्न है, कौन सन्तुष्ट है......तुम प्रसन्न हो!

[दिलीप कुछ कहना चाहता है, उसके मुख पर एक बादल सा आता है, किन्तु दूसरे क्षण ही वह संयत हो जाता है]

दिलीप : मैं .....(हँसता है) मैं कवि हूँ। (उसकी कुर्सी पर बैठते हुए) और तुम......तुम कवि से दार्शनिक बन गयी हो।

(स्वयं भी चारपाई पर बैठ जाता है।)

अप्पी : जीवन में मनुष्य, या दार्शनिक बन जाता है या पत्थर।

दिलीप : दोनो एक ही चीज़ के दो नाम हैं।

अप्पी : शायद तुम ठीक कहते हो। पत्थर कदाचित् सब से बड़ा दार्शनिक है।

दिलीप : (उठ कर कमरे में घूमते हुए) किन्तु अप्पी, अच्छा होता यदि तुम कवि रहतीं! अपनी समस्त निराशा और विफलता के होते भी कवि के हृदय में, हृदय के किसी

अज्ञात कोने में आशा छिपी रहती है। तुम सोच ही नहीं सकतीं अप्पी, कल साँझ मैं कितना हताश था! रात मैंने किस मानसिक-यन्त्रणा में व्यतीत की। अपने कोलाहल भरे पर खोखले वातावरण की उस दम घोंटने वाली कारा से मैं किस प्रकार भाग कर यहाँ आया, किन्तु इस नन्हें से सुन्दर कस्बे को देख कर, तुम से मिल कर, निम्मो और दीशी को पाकर, तुम्हारे इस नन्हें से स्वर्ग के दर्शन कर, मैं निहाल हो गया हूँ। जैसे अपनी खोई आशा और प्रसन्नता मुझे पुनः मिल गयी है। परन्तु इसी स्वर्ग का सृजन करने वाली तुम दुखी और उदास हो।

अप्पी : स्वर्ग......!

(अतीव व्यथा से हँसती है।)

दिलीप : (अप्पी की उस विषैली, पीड़ामयी मुस्कान की ओर ध्यान दिये बिना अपने भावों के प्रवाह में) और मैं सोचता था, यदि मैं यहाँ कुछ दिन भी रह जाता तो जाने कितनी सुन्दर कृतियों की सृष्टि कर देता। (फिर आकर चारपाई पर अप्पी के सम्मुख बैठ जाता है।) जिस दिन संसार में सुन्दरता उत्पन्न हुई थी अप्पी, शायद उस के साथ ही अपरूपता ने भी जन्म लिया था। दार्शनिक जब सुन्दरता को देखता है तो कुरूपता को नहीं भूलता, किन्तु कवि जब इस कुरूपता को देखता है तो सुन्दरता को स्मरण रखता है। विगत सुन्दरता को अतीत की अँधेरी कंदराओं से निकाल कर वह अपने वातावरण की अपरूपता पर

छा देता है, यहीं शायद वह दार्शनिक की अपेक्षा लाभ में रहता है।

अप्पी : (लम्बी साँस भरते हुए) शायद तुम सच कहते हो, शायद यह कविता ही की संजीवनी है, जिसने अब तक मुझे जीवित रखा। शायद मैं अपने अतीत के सुख में अपने वर्तमान दुख को, अतीत की सुन्दरता में वर्तमान कुरूपता को भूले रही हूँ।

दिलीप : (हर्षोन्माद से) तुम्हारी कसम तुम अब भी कवि हो अप्पी, यद्यपि पिछले आठ वर्षों से तुमने एक भी पंक्ति नहीं लिखी।

अप्पी : तुम्हारे साथ रह कर शायद मैं फिर कवि बन जाऊँ! तुम रहो तो शायद मैं फिर अपना पुराना सुख-उल्लास पा जाऊँ।

दिलीप : (उठ कर फिर कमरे में चक्कर लगाते हुए) मैं रहूँगा। मुझे बर्फ के गिरने से कोई दिलचस्पी नहीं।

अप्पी : बर्फ के गिरने से?

दिलीप : हम लोग बर्फ गिरती देखने आये थे, किन्तु जम्मू पहुँच कर मैं यहाँ चला आया।

अप्पी : (उठ कर उस की आँखों में अरमान-भरी दृष्टि से देखते हुए) तुम कभी आओगे, शायद मैं इसी आशा पर जीवित थी।

[निमिष भर के लिए दोनों एक दूसरे को आँखों में देखते हैं। दिलीप की आँखों में क्षण भर के लिए एक चमक सी कौंध जाती है। लगता है जैसे वह एक ही बार अप्पी को अपने आलिंगन में भर लेगा, किन्तु

दूसरे क्षण वह असीम संयम से—जिस के चिन्ह उस के मुख पर अंकित हो उठते हैं—अपने आप को वश में कर लेता है और उस की आँख की वह चमक जैसे अचानक उत्पन्न हुई थी, उसी प्रकार सहसा विलुप्त हो जाती है। उसके ओठों पर एक उदास सी मुस्कान खेलने लगती है। अप्पी तत्काल प्रसंग बदल देती है।]

अप्पी : तुम्हें बारहदरी पसन्द आयी ?

दिलीप : (प्रसन्न है कि अप्पी ने प्रसंग बदल दिया, बड़े उत्साह से) बारहदरी...पसन्द...(हँसता है और कमरे में घूमता है।) मुझे लगता है जैसे मुझे इसी बारहदरी की आवश्यकता थी—वहीं बैठा बैठा मैं सूर्य के उदय-अस्त का दर्शन कर सकता हूँ, हिमालय के हिम-मंडित शिखरों और किरणों के आलिंगन का आनन्द उठा सकता हूँ, नीचे नदी को किसी अनन्त-खोज में निरन्तर भागते देख सकता हूँ। बैठा बैठा थक जाऊँ तो लेट सकता हूँ, लेटा लेटा ऊब जाऊँ तो घूम सकता हूँ।

अप्पी : मैं डरती थी, कहीं वहाँ तुम्हें ठंड न लगे। रात को सर्दी हो जाती है बारहदरी में। वर्षा होने लगी है। कुछ दिनों से।

दिलीप : मैं वर्षा को पसन्द करता हूँ। बाहर मेघ रिम-झिमा रहे हों और मैं कमरे में चुपचाप बैठा उन का संगीत सुनूँ, या फिर बाहर तूफान हरहरा रहा हो, मेरे कमरे की दीवारों से टक्करें मार रहा हो और मैं अपने कमरे में आराम से बैठा, खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द कर के कविता करूँ, ऊँघूँ या

स्वप्न देखूँ — इस से ज़्यादा मुझे और कोई बात पसन्द नहीं।

अप्पी : मुझे शीत का भय था इसलिए मैंने नीचे का कमरा भी ठीक करा दिया था।

दिलीप : नहीं......नहीं......नहीं मुझे वह कमरा पसन्द नहीं, मुझे बारहदरी पसन्द है।

अप्पी : मैं दो पट्टू रख दूँगी, शायद तुम्हें सरदी लगे।

दिलीप : तुम चिन्ता न करो, मेरी बेतकल्लुफ़ी में अभी तक किसी प्रकार की कमी नहीं आयी।

(बारजे में बेगाँ की आवाज़ आती है।)

बेगां : जगदीश की अम्मा......जगदीश की अम्मा......

अप्पी : (जाकर चारपाई पर बैठते हुए) आओ बेगाँ आ जाओ!

(बेगाँ आकर चौखट में बैठ जाती है।)

— : सलाम दादी बेगाँ।

बेगाँ : वालेकुम सलाम जगदीश की अम्मा (दिलीप से) सलाम हुजूर (फिर अप्पी से) बाल बच्चे जियें, दूधों नहाओ पूतों फलो!

अप्पी : कहो कैसे आयीं।

बेगाँ : किशन सिंह का छोकरा गया था गुलदस्ते मांगने, मैंने कहा......खुद ही ले जाऊँ।

अप्पी : दिलीप भैया आये हैं बेगाँ, यहीं रहेंगे, हो सके तो एक गुलदस्ता रोज़ दे जाया करो।

बेगाँ : सौ बार हुजूर, जितने कहो उतने।

अप्पी : आज हम तुम्हारा बाग़ देखने आयेंगे।

बेगाँ : धन्न भाग हमारे जो आप आयें।

अप्पी : सरसों का साग और मक्की का ढोढा खिलाओ तो आयें।

बेगाँ : ढोढों की क्या कमी है सरकार।

अप्पी : (जेब से कुछ पैसे निकाल कर उस की ओर फेंकती है।) लो यह दो आने बच्चों के लिए रेवड़ियाँ ले जाना।

बेगाँ : सरकार, बख्शू के लिए कोई कुर्ता मिल जाता। नंगा फिरता है। साईं जिये !

अप्पी : अब तो नहीं पर दो एक दिन में देख कर भेज दूँगी

बेगाँ : (उठते हुए) बच्चे जियें सरकार आप ही का आसरा है......सलाम !

(चली जाती है।)

दिलीप : यह ढोढा क्या बला है !

अप्पी : मक्की की रोटी को ढोढा कहते हैं।

दिलीप : (ठहाका मार कर) वाह ! क्या नाम रखा है मक्की की रोटी को !

(दीशी भागा आता है।)

दीशी : ममी !

(निम्मो उसके पीछे भागी आती है।)

निम्मो : ममी !

(उसके आँचल से लिपटती है।)

अप्पी : (उस के मैले हाथों से आंचल बचाते हुए) अरे...रे...रे !कहो भी !

दीशी : (निम्मों के साथ ममी को घेरते हुए) पैसे दो, रेवड़ियां लेंगे।

अप्पी : (सहसा क्रोध से) सारा दिन तुम्हें चरने के सिवा...... (फिर सम्हल कर) अच्छा अच्छा लो पैसे और...... मेरा पिंड छोड़ो।

(दोनो चलने को होते हैं।)

— : और अपने पापा से जाकर कहो निम्मो—आ जायँ, जरा घुमा लायें तुम्हारे अंकल को बेगा के बाग़ तक !

दीशी : (जाते जाते) दफ़्तर में आदमी बैठे हैं।

निम्मो : मैंने पूछा था वे न आयेंगे।

(बारजे में अदृश्य हो जाते हैं।)

अप्पी : चलो दिलीप, बेगा के बाग तक घूम आयें, तुम्हें ज़रा यहाँ के गांव दिखा लाऊँ ।

दिलीप : चलो !

अप्पी : ठहरो, मैं जरा चादर ओढ़ लूँ ।

दिलीप: चादर !

अप्पी : यह कोई दिल्ली आगरा तो है नहीं, कस्बा है पुराने वक्तों का। सिर ढक कर चलना पड़ता है, आंखें नीची करके !

[आँखे नीची करके—यह बताते हुए कटाक्ष से दिलीप की ओर देखती है। मुस्कराती है। दिलीप भी मुस्कराता है। अप्पी के मुख पर लाली दौड़ जाती है। आलमारी से रेशमी चादर निकाल कर ओढ़ती है। दिलीप विमोहित सा देखता है।]

[पर्दा गिरता है।]

चौथा दृष्य

संध्या के समय उसी कमरे में

[सूर्य शायद अभी अभी अस्त हुआ है और यद्यपि भीतर कमरे में काफ़ी अँधेरा छा रहा है, किन्तु दायीं ओर की खिड़की से अभी तक जाते हुए प्रकाश की अंतिम झलक आ रही है।

कमरे में सब कुछ लगभग वही है जो तीसरे दृष्य में केवल आँगन के दरवाज़े के बराबर दीवार की खूंटी में एक लालटेन लटक रही है, जिसकी चिमनी काली हो रही है।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद अप्पी और दिलीप प्रवेश करते है। अप्पी बड़ी बेज़ारी से चादर को उतारते हुए आती है।]

अप्पी : चादर को चारपाई पर फेंकते हुए और स्वयं उसमें धँसते हुए) कितना आनन्द आया इस सैर में !

(सुख की लम्बी साँस लेती है ।)

दिलीप : (कुर्सी पर बैठते हुए) जाने कितने वर्षों के बाद यह सुन्दर साँझ और ऐसा सुन्दर साथ मिला है ।

अप्पी : (लाल होते हुए) यही मैं कहने वाली थी ।

दिलीप : मैं कहता हूँ अप्पी, ये देहाती कितने सरल, और सत्कार-शील हैं । मुझे तो ऐसा अनुभव हुआ जैसे मैं किसी आदिम बस्ती में पहुँच गया हूँ (कुर्सी-पर पीछे को लेट जाता है (जहाँ मानव ने दानव होना नहीं सीखा और जहाँ जीवन की पवित्र नदी छल कपट से रहित, अपने किनारों में मग्न बह रही है ।

अप्पी : आस पास ऐसे बीसियों गाँव है । मैं शुरु शुरु में जाया करती थी, किन्तु अब तो जैसे इच्छा ही नहीं होती, विचित्र शिथिलता सी छायी रहती है मन-प्राण पर ।

दिलीप : (उठ कर अपनी आकुलता और इस सुन्दर वातावरण से उत्पन्न होने वाली रूमानी भवना के वशीभूत होकर) तुम्हारे आस पास कितना सौन्दर्य है !

(खिड़की में जा खड़ा होता है ।)

अप्पी : किन्तु पिंजरे के भीतर वही कुल्हिया का दाना-पानी ।

दिली[illegible] [illegible] मु[illegible] कर) फिर वही निराशा । अप्पी तुम दार्शनिक बन गयी हो, सुन्दरता को भूल गयी हो । मैं यहीं रहूँगा, तुम्हें फिर से इस अमर-सौन्दर्य का आनन्द लेना सिखाऊँगा । कितना सौन्दर्य है तुम्हारे चारों ओर—अल्हड़, पवित्र, अमर-सौन्दर्य ! अभी कुछ क्षण पूर्व मैंने जो दृश्य देखा, वह मृत्यु-पर्य्यन्त मेरे मेरे मानस-पट पर अंकित रहेगा !

अप्पी : (चारपाई पर लेटे लेटे) कौन सा दृश्य ?

दिलीप : साँझ के सायों और धुँधलकों में लिपटी हुई नीलिमा धीरे धीरे वैशनव देवी के पहाड़ पर नीचे से ऊपर को उठ रही थी। देखते देखते सारे के सारे पहाड़ पर नीली नीली धुंध का परिधान छा गया। केवल चोटी पर नीला सा प्रकाश रह गया— कदाचित् अस्तोन्मुख सूरज की अन्तिम मुस्कान का बिम्ब था

अप्पी : यदि तुम प्रातः नदी पर जाओ तो उस नीलिमा को नीचे को उतरते देखोगे और पहाड़ के शिखर पर तुम्हें उदित होते हुए सूरज की पहली मुस्कान का बिम्ब दिखायी देगा। पर मैं इन मुस्कानों की अभ्यस्त हूँ, मेरे लिए उनमें कोई नूतनता नहीं।

दिलीप : कोई नूतनता नहीं, यह तुम कहती हो। और फिर दार्शनिक के नाम से तुम्हें चिढ़ होती है। मैं यदि इस दृश्य को, इसी रूप में, प्रलय-पर्यन्त देखता रहूँ तो नित्य नये दिन मुझे इस में नित्य नया आनन्द प्राप्त हो। उस समय जब मैं उस नीले के श्वेत-श्याम-भूरे पत्थरों पर खड़ा था और धुंधयाली नीलिमाओं ने निकट के पहाड़ों को अपने आँचल में छिपा लिया था और दूर हिमाद्रि के शिखरों पर अस्तोन्मुख सूरज की केसरी चमक रेखा-गणित की अद्भुत शक्लें बनाती हुई चारों ओर से बढ़े आने वाले, उन गहरे सीमाहीन दुर्धर्ष, धुँधलकों में खो गयी थी, मुझे ऐसा लगा था जैसे मैं इस भौतिक-जगत से ऊपर, बहुत ऊपर

उठ गया हूँ। मेरे मन की समस्त मलिनता धुल गयी है ! दुख-दर्द, मोह-शोक, उद्वेग-आक्रोष अब मुझे छू न पायेंगे। और उस समय, मैं सच कहता हूँ अप्पो, उस समय मुझे उस अनादि, अनन्त, अद्वैत सत्ता के सान्निध्य की अनुभूति मिली थी। इस विस्तार और उत्कर्ष का तो एक कोना भी वर्षों में नहीं जाना जा सकता। यह कहीं पुरानी हो सकती है !

अप्पी : (व्यथा से हँस कर उठते हुए) शायद नये पुराने की पहचान मुझे नहीं रही। कितना अँधेरा हो रहा है यहाँ। इन कम्बख्तों ने अभी तक दिया नहीं जलाया (बारजे पर जाकर) पार्वती......पार्वती......(फिर जैसे अपने आप से) वे भी न जाने क्यों अभी तक नहीं आये। सैर को न चले गये हों। तुम्हारे इस काव्य-कलाप में, मैं तो लैम्प जलाना ही भूल गयी। (हँसती हुई खूँटी से लैम्प उतार, ताक से दियासलाई उठा कर उसे जलाती है।) चिमनी तक नहीं साफ़ की दुष्टों ने, और बत्ती, लगता है, जैसे वर्षों से नहीं कटी (फिर बारजे पर जाकर और भी ज़ोर से पार्वती को पुकारती है) पार्वती......पार्वती !

पार्वती : (भागी आती है।) जी......जी बहू जी !

अप्पी : यह लैम्प साफ़ नहीं किया।

पार्वती : किशन सिंह से पूछ लीजिए बहू जो, मैं ने तो बड़ी अच्छी तरह साफ़ कर के जलाया था, शायद बुझ गया।

अप्पी : बत्ती नहीं काटी ?

पार्वती : मैंने कोशिश की थी, पर यह मुझ से ठीक नहीं होती।

अप्पी : वह कैंची उठा ला !

(पार्वती ताक से कैंची उठा लाती है।)

अप्पी : (कैंची लेते हुए) साहबकहाँ हैं ?

पार्वती : जी वे आये थे, पर आप तो गये हुए थे, इस लिए शायद वे भी सैर को निकल गये।

अप्पी : (चिमनी को साफ़ करते और बत्ती काटते हुए) तुम तो बिजली की चकाचौंध के अभ्यस्त हो, यहाँ तो लालटेनों का ही प्रकाश है जो इस अँधेरे को और भी घना बना देता है।

दिलीप : मन का अंधकार तो बिजली के हंडे भी नहीं मिटा सकते ! किन्तु मैं अंधकार से अपरिचित नहीं हूँ अप्पी ? मेरा इस से घना सम्बंध है। कभी कभी मुझे लगता है जैसे मैं इस अंधकार के आवरण को कभी न चीर सकूँगा, परन्तु फिर कितनी ही स्मृतियाँ अपनी दीप्त-मशालें लिये हुए आ जाती हैं। अंधकार की यह चादर आइने की तरह चमक उठती है और मैं उसमें अपने स्वप्न देखने लगता हूँ।

अप्पी : (लैम्प को खूँटी से लटकाते हुए) तुम अब भी स्वप्न देखते हो ?

दिलीप : मैं जिस दिन स्वप्न न देखूँगा, मर जाऊँगा।

अप्पी : राम, राम, कैसी बातें करते हो।

[उस के मुख पर हाथ रखना चाहती है, पर हाथ तेल सने इसलिए पार्वती को पुकारती है।]

— : पार्वती, जरा पानी और साबुन लाना।

दिलीप : अभी कल रात मुझे लगा था जैसे अंधकार अपने सारे दल-बल के साथ मुझे ग्रसने बढ़ा आ रहा है, जैसे यह मेरे सब स्वप्नों का गला घोंट देगा, परन्तु मैं भाग कर यहाँ, तुम्हारे पास आ गया और इस समय मुझे अनुभव होता है जैसे इस लालटेन के प्रकाश में, मेरे मन का अँधेरे से अँधेरा कोना भी दीप्त हो उठा है।

[पार्वती पानी लाती है। और अप्पी साबुन से हाथ धोती है।]

— : तुम इस प्रकाश को हेय समझती हो अप्पी, तुमने अपने आपको नहीं पहचाना ॥

(पार्वती चली जाती है।)

अप्पी : (तौलिये से हाथ पोंछते हुए) पहचाना ! मैं स्वयं कई बार एक अथाह अंधकार में भटकती रहती हूँ। कभी कभी मुझे प्रतीत होता है जैसे यह अंधकार मुझे, मेरी इच्छाओं, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों स्मृतियों—सब को निगल जायगा। और मैं उस शव की भाँति पड़ी रह जाऊँगी जिस का सारा रक्त किसी तृप्त न होने वाली जोंक ने चूस लिया हो (दीर्घ-निश्वास भरती है) किन्तु तुम ने सच कहा, मनुष्य अंधकार का भी अभ्यस्त हो जाता है और जहाँ

पहले अंधकार उस का रक्त चूसता है, वहाँ वह अंधकार ही से रक्त प्राप्त करता है।

दिलीप : (सहसा उसे दोनों कंधों से पकड़ कर)अप्पी ! तुम्हारी कसम अप्पी, तुम कवि हो। तुम सचमुच बड़ी प्रतिभा-सम्पन्न कवि हो, न जाने कौन से भाव तुम्हारे अन्तर की गहराइयों में दबे, अभिव्यक्ति की बाट देख रहे हैं।

अप्पी : (प्रसन्नता से उस की आँखों में देखते हुए) मैं स्वयं अनुभव करती हूँ जैसे मैं एकदम गा उठूँगी। भावों का एक तूफ़ान सा मेरे मानस में उफन उठा है। न जाने यह तुम्हारे ही आने की प्रतीक्षा कर रहा था। तुम रहो तो जाने यह शब्दों और पंक्तियों का रूप धर ले।

दिलीप : मैं अवश्य रहूँगा अप्पी।

अप्पी : (सशंक) किन्तु वाणी ?

दिलीप : वाणी ! वह मुझे यों ही उड़ाये फिर रही है। कभी कभी मैं अपने आप को किसी ऐसे हल्के-फुल्के से खाली बादल सा अनुभव करता हूँ, जो आकाश के प्रांगण में, पवन के झोंकों से, निरर्थक, निरुद्देश्य, कभी इधर उड़ता है कभी उधर। और कभी मुझे लगता है जैसे मैं भावुकता से भरे, पर प्रभाव से रीते उन शब्दों ऐसा हूँ जो किसी भावुक,थोथे, भाषण कर्ता के ओठों से निकल कर निरर्थक हवा में उड़ते रहते हैं और किसी के हृदय में पैठ नहीं पाते।

अप्पी : क्या कहते हो! तुम्हारे लिए किसी के हृदय में जगह नहीं।

दिलीप : (उत्तर दिये बिना अपने भावों की रौ में) पर नहीं मैं और अधिक नहीं उड़ूँगा। एक भरी, जमी, घिरी घटा की भाँति टिक कर बैठ जाऊँगा। वाणी अब मुझे और नहीं उड़ा सकती। मैं उस से पीछा छुड़ा कर भाग आया हूँ। मेरी रूह आज़ादी चाहती है। विकास चाहती है। विस्तार चाहता है। उड़ान चाहती है।

(बाहर आँगन में कोई कुंडी खटखटाता है।)

अप्पी : कौन?

(फिर दस्तक की आवाज़ आती है।)

— : (बारजे पर जाकर) पार्वती, देखो कौन है?

पार्वती : (जो उधर ही आ रही है, बायें दरवाजे से) एक लड़की है बहू जी, जम्मू से आयी है, दिलीप बाबू को पूछ रही है।

दिलीप : (घबरा कर) वाणी न हो।

अप्पी : (जिसके मुख पर एक बादल आता है, पर दिलीप के अन्तिम वाक्यों से आश्वस्त जो तत्काल संयत हो मुस्करा देती है।) घबरा क्यों गये, मैं जाकर उन्हें ले आती हूँ।

(बारज़े के बायें दरवाजे में वाणी आती है।)

दिलीप : लाने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही आ रही है।

अप्पी : आ जाइए, आ जाइए।

[वाणी भीतर आती है, पढ़ी लिखी फैशनेबुल लड़की जिस के सौन्दर्य की दीप्ति मेक-अप की कृतज्ञ है।]

अप्पी : (वाणी के लिए कुर्सी प्रस्तुत करते हुए) पधारिए।

वाणी : (नहीं बैठती और दिलीप की ओर देख कर शरारत से मुस्काती है) नमस्कार।

दिलीप : (खिसियानी सी हँसी के साथ) तुम दोनों का परिचय कराने की ज़रूरत तो नहीं।

वाणी : जी नहीं (अप्पी से) मैं वाणी हूँ और आप को मैं जानती हूँ।

अप्पी : बड़ी कृपा की आप ने (कुछ घबरा कर) न जाने वे आज कहाँ चले गये हैं (वाणी से) आइए, इधर पधारिए। कष्ट तो नहीं हुआ आप को यात्रा में ?

वाणी : (दिलीप की ओर देख कर शरारत से मुस्काते हुए) नहीं, आप की कृपा से पहुँच ही गये हैं।

अप्पी : कहिए चाय पियेंगी या दूध।

वाणी : आप कष्ट न कीजिए।

अप्पी : (व्यस्त होते हुए) इसमें कष्ट की कौन सी बात है, मैं अभी लायी, आप ज़रा बैठिए।

वाणी : आप कष्ट न कीजिए (नम्रता से) दूध मैं पीती नहीं और चाय का समय नहीं, और फिर हमें अभी जाना है।

अप्पी : (जाते जाते रुक कर) भला यह भी कोई समय है जाने का, अब तो कोई लारी भी न जायगी।

वाणी : हम कार पर आये हैं।

अप्पी : तो भाई, चाय तो पीते जाइए, हमारा तो खाना खाने का समय हो गया है।

वाणी : खाना तो हम देर ही में खाते हैं।

अप्पी : मैं जानती हूँ, इसलिए केवल चाय के लिये कह रही हूँ। बैठिए अभी आती हूँ। पार्वती......पार्वती...

(चली जाती है।)

वाणी : दिलीप !

दिलीप : (चुप रहता है।)

वाणी : बड़े निठुर हो ! यहाँ भाग कर आ बैठे हो ! और तुम्हें इस बात की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं कि तुम्हारे कारण इतने लोगों को परेशानी उठानी पड़ेगी। तुम्हारा फक्कड़पना कभी न जायगा। तुम कभी जिम्मेदारी न सीखोगे।

दिलीप : (चुप रहता है।)

वाणी : यदि तुम्हें यहीं आकर बैठना था तो वहाँ से चले क्यों थे। (उत्तर के लिए रुकती है। दिलीप उत्तर नहीं देता) अब उठो, प्रातः ही हमें श्रीनगर के लिए चल देना है, रात पहली बार बर्फ पड़ी है, यही समय है बर्फ गिरती देखने का।

दिलीप : मुझे कहीं नहीं जाना वाणी, मैं यहीं दूर से बर्फ गिरती देख लूंगा।

वाणी : पागल हो यहाँ से तुम कैसे बर्फ गिरती देख सकते हो ?

(कुर्सी पर बैठ जाती है।)

दिलीप : मैं सामने के पहाड़ों पर बर्फ की तहों को प्रतिक्षण गिरती हुई बर्फ से गहरी होते देख लूँगा।

वाणी : (हँसती है) तुम एक दम बच्चे हो ! अब उठो, परेशान न करो मैं ! रात भर सो नहीं सकी।

दिलीप : मैं ही कब सो सका हूँ।

वाणी : तुम तो यहाँ आकर अप्पी की गोद......

दिलीप : (उठ कर) वाणी।

वाणी : अप्पी, अपनी बहन की गोद में आ बैठे हो और मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में......

दिलीप : वाणी, जाओ, अब मुझे कुछ पल के लिए शान्ति का साँस लेने दो...तुम ने मुझे बहुत सता लिया।

(फिर हठी बच्चों की भाँति बैठ जाता है।)

वाणी : (कंठ में आर्द्रता है) दिलीप !

दिलीप : (चुप रहता है)

वाणी : तुम मुझे सता रहे हो या मैं तुम्हें ?

दिलीप : जाओ तुम देख आओ आकाश से बर्फ गिरती ! मैंने ओले गिरते देखे हैं।

वाणी : इन बातों से लाभ ? चलो यहाँ से! तुम्हें यहाँ न आना चाहिए था। तुम्हें निरन्तर उस दिन की याद आयेगी जब तुमने पहली बार ओले गिरते देखे। तुम रहोगे तो इस घर के शान्त-वातारण में भी ओले गिरने लगेंगे। चलो मेरे साथ, बर्फ के नर्म नर्म सुकोमल रूई के गालों को गिरते देखो।

दिलीप : मैं जाऊँगा तो तुम्हारा आनन्द भी किरकिरा कर दूँगा मुझसे तुम्हारी बातें न सही जायेंगी। हम फिर लड़ने लगेंगे।

वाणी : तुम हँसी हँसी में रूठ जाते हो।

दिलीप : हँसी हँसी में फर्क होता है, मैं अप्पी का इतना आदर करता हूँ......

वाणी : तो तुमने मेरे और विष्णु के सम्बन्ध में इतनी सच्ची

झूठी बातें कह कर बदला तो ले लिया। तुम ने वे बातें कहीं कि तुम्हारे बदले कोई और होता तो मैं उसे जीवन भर क्षमा न करती। (दीर्घ-निश्वास भरती हुई हँसती है।) किन्तु जाने क्यों दिलीप, तुम्हारी गालियों का भी मुझ पर उलटा असर होता है।

दिलीप : मैंने तुम्हें गालियाँ दीं !

वाणी : गालियाँ और कैसी होती हैं ?

दिलीप : और तुमने जो मुझसे कहा कि अप्पी......

वाणी : अब हटाओ, इस बहस को फिर से आरम्भ न करो ! तुम जीते, मैं हारी ! मैं तुमसे सदैव हार जाती हूँ।

दिलीप : इसमें हार जीत का प्रश्न नहीं।

वाणी : मैं हाथ जोड़ कर क्षमा माँगती हूँ, मैं स्वयं अपराजिता बहन का आदर करती हूँ। मैंने केवल यही कहा था कि उन सब बातों के बाद, जो तुम्हीं ने मुझे सुनायीं, तुम्हें अखनूर न आना चाहिए था।

दिलीप : मैं जम्मू तक आकर उसे मिले बिना चला जाता।

वाणी : खैर, लौटती बार चाहे तुम वर्ष भर यहाँ बैठे रहना, किन्तु अब सारे का सारा प्रोग्राम मिट्टी में न मिलाओ, देखो, मुझे निराश न करो। वह अपराजिता आ रही हैं, कहो तो मैं उनसे भी क्षमा माँग लूँ। (तनिक उच्च-स्वर में) अपराजिता बहन......

(अप्पी आती है।)

दिलीप : (सरगोशी में क्रोध से) वाणी !

अप्पी : कहिए, आपने मुझे पुकारा ?

[अप्पी के पीछे पीछे ही प्राणनाथ और उन के पीछे हरि, व्यास, किशोर आदि बारजे पर आते हैं।]

प्राण नाथ : तुम ज़रा दूसरे कमरे में हो जाओ। (उन लोगों की ओर देखते हुए) आ जाइए साहब, आ जाइए।

[निम्मो और दीशी बाहर से भागे भागे आते हैं और 'ममी' 'ममी' कहते अप्पी का आँचल पकड़ लेते हैं।]

अप्पी : (दाँत पीसते हुए सरगोशी में) कहाँ से आये हो धूल उड़ाते ? कपड़े तो देखो कैसे मैले हो रहे हैं। हटो, देखो कौन आये हैं।

दीशी : हम पापा के साथ सैर करने गये थे।

[अप्पी आँचल छुड़ाकर तनिक सा घूँघट कर के साथ वाले कमरे में चली जाती है। व्यास, हरि, किशोर आदि भीतर आते हैं।]

हरि : (भीतर प्रवेश करते ही दिलीप से) अरे तुम यहाँ आकर बैठ गये और हम सुबह से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ! अजीब चुग़द हो तुम !

व्यास : कल प्रात: हमें श्रीनगर के लिए चल देना है और तुम यहाँ ऐसे बैठे हो मानो अब यहीं कुटिया बसाओगे।

किशोर : हम लोगों को तो फिर कालेज भी जाना है, तुम तो स्वतन्त्र हो, तुम्हारा क्या है, फिर आकर यहाँ धूनी रमा लेना।

दिलीप : मुझे कहीं नहीं जाना, मैं अब यहीं रहूँगा।

वाणी : समझाइए ज़रा इन्हें किशोर साहब।

हरि : (किशोर को पीछे हटाते हुए) अरे हटाओ, किशोर इन्हें क्या समझाएँगे। इन श्रीमान के कपड़े कहाँ हैं ? (निम्मो से) क्यों बेटा, तुम्हारे अंकल के कपड़े कहाँ हैं ?

निम्मो : (उत्तर नहीं देती।)

दिलीप : हरि तंग न करो।

व्यास : याने हम तंग कर रहे हैं।

हरि : (निम्मो को गोद में उठा कर) क्यों बेटा, क्या नाम है तुम्हारा ?

दीशी : (आगे बढ़ कर) इस का नाम निम्मो है और मेरा दीशी।

हरि : (निम्मो को उतार कर दीशी को उठाते हुए) क्यों दीशी भैये, तुम्हारे अंकल कहाँ ठहरे हैं ?

दीशी : ऊपर बारहदरी में।

हरि : चलो हमें ज़रा दिखाओ तो बारहदरी, तुम्हें मिठाई ले देंगे।

निम्मो : (मिठाई के नाम पर आगे बढ़ कर) मैं चलूँगी।

दीशी : (गोदी में मचल कर) नहीं मैं चलूँगा।

हरि : (बारजे की ओर बढ़ते हुए) आओ...आओ...तुम दोनों आओ (जाते जाते वाणी से) तुम ज़रा अपराजिता बहन से क्षमा माँग आओ।

[दोनों को साथ लेकर चला जाता है। वाणी साथ वाले कमरे में चली जाती है।]

व्यास : लातों के भूत बातों से नहीं माना करते। श्रीनगर में बर्फ गिरने के अद्वितीय सौन्दर्य का बखान कर इतनी

दूर से हमें यहाँ घसीट लाये जनाब, और स्वयं यहाँ आ बैठे हैं। भला किस के पैरों में खुजली हुई थी जो इस सर्दी में, इस कष्ट-प्रद यात्रा पर निकलता।

प्राण नाथ : किन्तु भाई मैं कहता हूँ आप इस समय कहाँ जायेंगे। मेरा विचार है आज रात यहीं रहें।

व्यास : आप का बड़ा धन्यवाद भाई साहब, किन्तु हमें प्रातः ही चल देना है। दो एक दिन श्रीनगर ठहर कर वापस आगरे पहुँचना है। इन दो एक दिनों में गुलमर्ग भी देखना है, हमारे पास समय बहुत कम है।

दिलीप : (कुर्सी से चिपकते हुए) तो भई, आप लोग जायँ! यदि मैं न जाऊँगा तो क्या बर्फ़ गिरना छोड़ देगी। मैं ज़रा शान्ति चाहता हूँ और यह स्थान मुझे पसन्द है।

व्यास : तुम्हें कुछ भी पसन्द नहीं और सब कुछ पसन्द है। दो दिन में इस शान्ति से भी ऊब उठोगे और उन हलचलों की याद सताने लगेगी।

प्राण नाथ : मैं कहता हूँ दिलीप बाबू को तो......

किशोर : आते आते छोड़ जायँगे।

प्राण नाथ : परन्तु भाई, इस समय तो अँधेरा हो गया है और मैंने सुना है कि नहर की पटड़ी ठीक नहीं है।

किशोर : हम आराम से चले जायँगे, आप चिन्ता न करें।

(हरि दिलीप का सूट और टाई उठाये हुए आता है।)

हरि : लो भई, सूट तो उठा लाया हूँ, अब उठाओ इन महाशय को, देर हो रही है, वे सब लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

(व्यास दिलीप को हाथ पकड़ कर उठाता है ।)

दिलीप : (कुर्सी पर चिपकते हुए) मैं कहता हूँ.......

किशोर : (दिलीप की बगलों में हाथ डाल कर पीछे से धकेलते हुए) तुम्हें जो कहना है रास्ते में कहना ।

दिलीप : (फिर बैठने की चेष्टा में) अरे भई......

व्यास : (घसीटते हुए) वहीं चल कर ।

दिलीप : मुझे अपराजिता से तो विदा ले लेने दो ।

हरि : (ज़ोर से) दीदी, इन्हें क्षमा कर दीजिएगा । हम इन्हें बरबस लिये जा रहे हैं, पर इसमें हमारा कोई दोष नहीं, यही महाशय हमें वहाँ से घसीट लाये थे ।

[दिलीप को घसीट कर ले जाते हैं । दीशी और निम्मो हँसते हुए उनके पीछे जाते हैं । प्राण नाथ भी विवश साथ साथ चलते हैं । वाणी भीतर के कमरे से आती है ।]

वाणी : चलो, मैं अपराजिता बहन से क्षमा माँग आयी हूँ ।

हरि : (सूट कंधों पर रख कर चलते हुए प्राण नाथ से) इस अशिष्टता के लिए क्षमा कीजिएगा भाई साहब, किंतु दूसरा कोई उपाय न था ।

(प्राण नाथ उनके साथ चलते हैं ।)

— : अरे...अरे...आप बैठिए, आप क्यों कष्ट करते हैं ।

प्राण नाथ : (लैम्प लेकर साथ चलते हुए) नहीं, नहीं, कष्ट कैसा, नीचे तक तो पहुँचा आऊँ, सीढ़ियों में जरा अँधेरा है ।

दिलीप : (पूरे ज़ोरों से बारजे के बायें दरवाजे में रुक कर) अरे भई, मुझे कपड़े तो बदल लेने दो ।

व्यास : कपड़े तुम जम्मू जा कर बदलना, ये कपड़े कल हम यहाँ भिजवा देंगे।

दिलीप : (परम-विवशता से जाते जाते) अप्पी भई, मैं फिर आऊँगा, ये लोग बड़े ज़ालिम हैं, मेरा कोई वश नहीं चलने देते।

[सब के सब चले जाते हैं। कमरे में संध्या का मद्धम सा प्रकाश है। कुछ क्षण बाद भीतर के कमरे से अप्पी निकलती है, जाकर कुछ देर खिड़की में लालसा-भरी दृष्टि से देखती रहती है, फिर आकर गिरती हुई दीवार की भाँति चारपाई पर लेट जाती है। कुछ क्षण बाद दीशी और निम्मो प्रसन्न चित्त प्रवेश करते हैं।]

दीशी : (निम्मो को दिखा कर) देखो जी हमारे पास क्या है? अठन्नी! हमें अंकल ने दी है।

निम्मो : (दीशी को दिखा कर) हमारे पास रुपया है, हमें भी अंकल ने दिया है।

दीशी : (अठन्नी को एक हाथ से पीठ पीछे करता हुआ) रुपया! दिखाओ तो।

निम्मो : नहीं दिखाते।

दीशी : ज़रा दूर से दिखा दो!

निम्मो : (तनिक दूर से) यह देखो।

[निम्मो रुपया दिखाती है और दीशी झपट कर उस से छीन लेता है।]

दीशी : (हाथ को घुमा कर झूठ मूठ रुपया शून्य में फेंकते हुए) वह गया फुर्र...र्र...र्र!

निम्मो : (रोने लगती है) मेरा रुपया ! हाय मेरा रुपया ! (वहीं धरती पर बैठ कर ऐड़ियाँ रगड़ने लगती है।) हाय मेरा रुपया...ममी......(फिर सहसा उठ कर धड़ा-धड़ दीशी को पीटते हुए) मेरा रुपया, दे मेरा रुपया...दे...दे !

दीशी : (उत्तर में पीटता हुआ) फिर पीटेगी ...ले...यह ले... यह ले !

अप्पी : (उठ कर चीखते हुए) निम्मो...दीशी, क्या हो गया है तुम दोनों को ? (ज़ोर से दो दो थप्पड़ दोनों बच्चों को जड़ देती है।) दिन भर लड़ते रहते हो तुम !

[चीखते और बच्चों को पीटते हुए स्वयं रोने लगती है और सिसकती हुई भीतर कमरे में चली जाती है। हाथ में लालटेन लिये प्राण नाथ प्रवेश करते हैं।]

प्राण नाथ : (बारजे ही से) अप्पी......(भीतर आकर) अप्पी (बच्चों को भयभीत देखकर) कहाँ है तुम्हारी ममी ?

दीशी : (पापा के घुटनों से चिमट कर ज़ोर ज़ोर से रोने लगता है।) भीतर कमरे में है।

[प्राण नाथ दीशी को हटाकर भीतर कमरे में जाते हैं, चौखट ही से उन की आवाज़ सुनायी देती है।]

प्राण नाथ : अप्पी...अरे बात क्या है ? ..रो क्यों रही हो ?... अप्पी......अप्पी ...... !

(जल्दी जल्दी भीतर जाते हैं।)

[पर्दा एक दम गिरता है।]

उड़ान

पात्र

माया

शंकर

रमेश

लछमन, भोटिये

पहला दृश्य

[शंकर का कैम्प बर्मा की सीमा पर बाँस के जंगलों में घिरी हुई एक छोटी पहाड़ी पर स्थित है। स्टेज की बायीं ओर यह पहाड़ी कुछ और ऊपर को उठती चली गयी है। उस के परे आकाश के शून्य से पता चलता है कि चोटी के दूसरी ओर सड़क है। पृष्ठ-भूमि में शंकर का कैम्प लगा है, जिसमें दो बड़े और एक छोटा खेमा है। उसके आगे (फ़ोर-ग्राउंड में) दायीं ओर को एक बड़ी सी चट्टान पड़ी है, जो कदाचित चोटी से लुढ़क कर यहाँ आ पड़ी है। दायीं ओर से एक पगडंडी ऊपर को आती है। चट्टान के पास आकर यह दो हिस्सों में बँट जाती है। एक मार्ग कैम्प को चला जाता है, दूसरा चट्टान के ऊपर से घूमता हुआ चोटी के दूसरी ओर को! पूर्णमाशी का ललाई लिये हुए पीत-श्वेत चाँद दायीं ओर घाटी में साँझ से ही उदय हो आया है। बाँस के ऊपर उस की सुनहरी नोक धीरे-धीरे ऊपर उठ रही है। यह पीला-पीला श्वेत प्रकाश इस धुँधलके को

स्वप्न की-सी सुन्दरता प्रदान कर रहा है। पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद दायीं ओर पगडंडी से दो भोटिये बाँस से उल्टी बँधी शिकार की हुई हिरनी कंधों पर उठाये हुए लाते हैं। चट्टान पर रख कर कुछ क्षण सुस्ताते हैं। खेमों की ओर से लछमन आता है। मरी हुई मृगी को देख कर ठिठकता है।]

लछमन : अरे हिरनी !

[बढ़कर देखता है कि उस की आँखें धोखा तो नहीं देतीं। फिर अपने-आपसे :]

— : साहब भाग्य के बड़े बली हैं। जिन जंगलों में ढूँढ़े से भी कभी हिरन नहीं मिलता, वहाँ हर बरस उन के हाथ से एक-न-एक शिकार हो जाता है। चलो, चलो ले चलो !

[दोनों भोटिये फिर बाँस उठा लेते हैं। आगे-आगे लछमन, पीछे-पीछे वे दोनों खेमों की ओर चले जाते है। क्षण भर बाद पगडंडी से एक कंधे पर शिकार किये हुए पक्षियों का थैला और दूसरे पर बन्दूक लिये शंकर प्रवेश करता है। थैला और बन्दूक चट्टान पर रख कर अँगड़ाई लेता है और फिर नीचे की ओर देखता हुआ अपने साथी को आवाज़ देता है।]

शंकर : रमेश

उसी समय बन्दूक के फ़ायर की आवाज़ सुनायी देती है। शंकर उचक कर चट्टान पर चढ़ता है, दूसरे क्षण उस का ठहाका वायुमंडल में गूँज उठता है।

कुछ क्षण बाद उसी पगडंडी से कंधे पर बन्दूक रखे, थकी हुई चाल से रमेश प्रवेश करता है।]

शंकर : (हँसी को रोकने का विफल-प्रयास करते हुए) पक्षी तो उड़ गया रमेश, केवल तुम्हारी गोली का धुआँ घायल साँप की तरह बल खा रहा है।

[फिर हँसता है। रमेश भी शंकर के समीप आ खड़ा होता है और चुपचाप घाटी से उदय होते हुए चाँद को देखता है।]

(उस के कंधे को थपथपाते हुए)

— : क्यों मुफ़्त में शिकार का नाम डुबोते हो? इसे मुझ-ऐसों के लिए रहने दो। तुम इस रागभीनी साँझ की स्तुति में कोई कविता लिखो। देखो, सामने पूर्णमाशी का चाँद अभी से निकल आया है।

रमेश : इसी कम्बख़्त ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींच लिया और मेरा निशाना चूक गया।

शंकर : तुम्हारा निशाना पहले कब नहीं चूका?

रमेश : (निरन्तर चाँद की ओर देखते हुए) कैसा सुन्दर है कम्बख़्त यह पूर्णमाशी का चाँद! इन पहाड़ियों और बाँस के इन जंगलों को रजत-सपने-की-सी कैसी सुन्दरता प्रदान कर रहा है!

[बन्दूक को चट्टान पर रखते हुए, उस पर बैठ जाता है और घुटनों को अपनी बाँहों में लेकर लम्बी साँस भरता है। नन्हें-नन्हें मेघ-बाल चाँद पर से गुजर जाते हैं।]

— : ऊपर नीला निखरा आकाश, नीचे बाँस के सरसराते

जंगल और दोनों के मध्य उड़ते फिरते यह चंचल मेघ-बाल—कितनी सुन्दरता है ?

[बादल का एक बड़ा-सा टुकड़ा चाँद पर छा जाता है। रमेश सहसा मुड़कर शंकर के घुटने को थाम लेता है।]

— : शंकर, जब कोई आवारा बादल चाँद को अपनी गोद में भर लेता है, तो धुँधलके कैसे गहरे हो जाते हैं और बाँस के पेड़ कैसी मीठी-मीठी सरगोशियाँ करने लगते हैं।

(शंकर केवल एक ठहाका मारता है।)

— : तुम मुझे पागल समझते हो शंकर। मैं सच कहता हूँ, जब से हम आये हैं, इस बिखरी-निखरी सुन्दरता को देख कर कई बार जी चाहा करता है कि एक नन्हा-सा पत्ती बन जाऊँ। इन आवारा बादलों के साथ इस सरसराती हरियाली पर उड़ता फिरूँ, एक नन्हा-सा हिरन बन जाऊँ और इन ऊँचाइयों और गहराइयों में चौकड़ियाँ भरता फिरूँ।

[सहसा उठता है और अपने अन्तर की आकुलता और बातों की रौ में वहीं घूमने लगता है।]

शंकर : (हँस कर) और मैं बन्दूक लिये तुम्हारे पीछे-पीछे...

रमेश : तुम जन्म के शिकारी हो !

शंकर : और तुम जन्म के कवि !

रमेश : (एक हाथ से शंकर को बरबस चट्टान पर बैठाते हुए) तुम इस बिखरी-निखरी सुन्दरता को भूल कर शिकार की खोज में बढ़े चले जाते हो और मैं इस सुन्दरता

में खो कर शिकार को भूल जाता हूँ ? यही कारण है कि मेरी गोली अपने पीछे मात्र धुआँ छोड़ जाती है और तुम्हारी एक आहत पक्षी......

शंकर : (हँसकर) और तुम शिकारी बनने के बदले पक्षी बनने की इच्छा किया करते हो !

[चाँद धीरे-धीरे ऊपर उठ जाता है। प्रकृति का सौंदर्य और भी निखर उठता है।]

रमेश : (दृश्य की सुन्दरता को एक-टक निहारते हुए बेपरवाही से) हाँ, मैं यही चाहा करता हूँ। जैसे किसी सुन्दर मूर्ति को देख कर इच्छा होती है कि उसे सदा के लिए अपने मन में बसा लें, कि अनायास उस के चरणों पर न्योछावर हो जायँ, कि जीवन-भर उस की परिक्रमा करते फिरें; उसी प्रकार इस सुन्दरता को देख कर जी चाहता है कि इस को हमेशा के लिए अपने हृदय-पट पर अंकित कर लूँ, कि नन्हा-सा पक्षी बन कर इसकी परिक्रमा करता फिरूँ, (तनिक हँसकर) फिर चाहे तुम्हारे-जैसे किसी शिकारी की गोली मेरे वक्ष को छेदती हुई निकल जाय और मैं तड़पता हुआ इस घाटी के चरणों में आ गिरूँ।

शंकर : (उठते हुए) हटाओ अपनी कविता और उठो। लच्छू हमारी राह देख रहा होगा।

रमेश : (अन्यमनस्कता से बन्दूक उठाते हुए) इन पहाड़ियों में घूमते-घूमते जब साँझ हो जाती है शंकर, तो कुछ अजीब सी लहरें मेरे मन में उठने लगती हैं।

(दोनों चलते हैं ।)

— : अभी कुछ क्षण पहले जब बाँस के पेड़ धीमे-धीमे सरसरा रहे थे और हवा उन के छिद्रों में प्यारी-प्यारी सीटियाँ भर रही थी, मेरे मन में कुछ अजीब-सी साध लहरा उठी थी।

शंकर : कि हवा बन कर बाँस के उन छिद्रों में खो जाओ। (हँसता है) तुम्हारी साधें भी तुम से कम विचित्र नहीं होतीं !

रमेश : जी में आया था कि किसी भूले-भटके राही का गीत बन जाऊँ और इन सीटियों के साथ मिल कर इन घाटियों और वनों के लुभावने-एकान्त को गुँजाता फिरूँ। (सहसा शंकर को रोक लेता है।) सुनो, कोई गा रहा है।

शंकर : (ठहाका मारकर) तुम्हारी कल्पना गीत बन गयी है।

(उसे धकेलता है।)

रमेश : (रुककर) नहीं, नहीं, सुनो, अवश्य कोई गा रहा है।

(दायीं ओर से गाने का धीमा-धीमा स्वर आता है :)

'आँसुओं से आज भीगा प्यार मेरा ।
मिट गया सुख का सजा संसार मेरा ,

रमेश : देखो, कोई दर्द-भरी लय में धीरे-धीरे गा रहा था। कितना करुण स्वर था, जैसे कोई आहत पक्षी दम तोड़ रहा हो।

(फिर धीरे-धीरे वही गीत सुनायी देता है।)

— : यह फिर सुनायी दिया।

शंकर : (रुककर) हाँ, कोई गा रहा है।

रमेश : इस सुनसान में, संध्या के इस सन्नाटे में!

शंकर : किसी नारी का स्वर प्रतीत होता है—किसी युवा नारी का।

रमेश : (पहाड़ी पर कुछ ऊपर चढ़ कर) कोई भी तो दिखायी नहीं देता। केवल बाँस के पेड़ अथक सरसरा रहे हैं, और दूर खड्ड में किसी नागा की झोंपड़ी का टिम-टिमाता दीपक किसी दुःखी किसान के अरमान की भाँति निरन्तर जल रहा है।

शंकर : (जिस के कान गाने में उलझे हैं।) यह तो निश्चय ही किसी युवती का स्वर है। (बन्दूक उसी प्रकार कन्धे पर लिये मुड़ता है, थैला फिर चट्टान पर रख देता है।) शिकार की धुन मेरी नसों में उबलती हुई आग बन रही है। अपनी बाँहों में किसी भूली-भटकी हिरनी को भर लेने की इच्छा, तेज शराब के पहले घूँट की तरह, मेरी धमनियों में दौड़ रही है।

रमेश : (जल्दी जल्दी उतरता है) शंकर तुम्हारे पहलू में दिल के स्थान पर शायद पत्थर है। जाने कौन, जाने किस दुःख के बोझ से निढाल, इतनी व्यथा इन निर्बल तानों में भर रही है और तुम......

शंकर : (हँसता है।) किसी चिड़िया को निशाना बनाते समय कभी हमने सोचा है कि वह प्रसन्न है या उदास? हम तो शिकार करते हैं, भाई! और शिकारी कभी भावनाओं की चिन्ता नहीं करता। चलो, चलो यह सिसकता-सा दर्द भरा स्वर जैसे मुझे अपनी ओर

बुला रहा है। मुझे ऐसा लगता है, जैसे यह भोली-भाली हिरनी मेरी बाँहों में आने के लिए, शिकार हो जाने के लिए, अनायास इधर चली आयी है।

रमेश : तुम पशु हो, तुम्हारे-जैसा शिकारी दिल मेरे पास नहीं।

शंकर : (हँसता है।) शिकार देखने वाला दिल तो तुम्हारे पास है। पागल न बनो, चलो।

[वे जिधर से आये थे, उसी पगडंडी पर वापस मुड़ जाते हैं। कुछ क्षण बाद खेमे से लछमन निकलता है और चट्टान के निकट आकर शिकार के थैले को देखता है।]

लछमन : (स्वतः) साहब किधर गये? (पहाड़ी पर कुछ ऊपर चढ़कर इधर-उधर देखता है) आते-आते भी कोई शिकार मारा है शायद!

[थैला उठा कर चला जाता है। स्टेज पर दिन का प्रकाश समाप्त हो जाता है, किन्तु चाँद और ऊपर उठ आता है और स्टेज पर पूर्ण रूप से चाँद की चाँदनी छा जाती है। कुछ क्षण बाद शंकर तेज़ी से आता है और चट्टान की ओर देखता है।]

शंकर : (थैले को न पाकर अपने-आपसे) शायद लछमन ले गया उठा कर!

[तेज़ी से कैम्प की ओर चला जाता है? क्षण-भर पीछे, रमेश का सहारा लिये माया प्रवेश करती है। थकी-हारी और अशक्त। मैले और जीर्ण-जर्जर वस्त्र पहने, जिन में से उस का यौवन किसी निडर

विद्रोही-सा झाँक रहा है। चट्टान के पास आते ही थक कर बैठ जाती है।]

माया: मैं तनिक सुस्ता लूँ।

रमेश : हाँ, हाँ, आप शौक से सुस्ता लीजिए।

[बन्दूक चट्टान पर रख देता है और व्यग्रता से हाथ धोने के अन्दाज़ में हाथ मले जाता है।]

माया : आठ-दस दिन से रास्ते के किनारे उगी हुई जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त मैंने कुछ नहीं खाया।

[चट्टान पर लेट जाती है। फिर दीर्घ-निश्वास लेकर]

— : हमारे साथ एक बैल था। एक दिन चलते चलते वह सहसा बैठ गया। विवश हम उसे मार्ग में ही छोड़कर चले आये। मृत्यु की उस घाटी में घास का तो नाम भी न था, किन्तु हम उसे बाँस के पत्ते यथेष्ट मात्रा में खिलाते रहे थे। उस के इस तरह बैठ जाने पर मुझे आश्चर्य हुआ था, किन्तु अब मैं जान गयी हूँ कि शरीर कभी कभी इतना थक जाता है कि सारे-के सारे अंग शिथिल हो जाते हैं। मैं पिछले आध घंटे में, केवल थकान के कारण, तीन बार बैठ चुकी हूँ और इस बार बैठ भी नहीं सकी।

रमेश : हाँ, हाँ, आप लेटी रहें। आप को संकोच होगा। मैं आप की ओर पीठ करके बैठ जाता हूँ।

माया : (हँसती है।) बमबारी ने जहाँ मकानों के परखचे उड़ा दिये, वहाँ उन के वासियों की लज्जा को भी तार-तार कर दिया। जिन की शर्म उन्हें झरोखे

से झाँकने तक की आज्ञा न देती थी, उन्हें मैंने नंगे मुँह (दर्द से हँसती है ।) नंगे मुँह क्या, नंगे शरीर सड़कों पर भागते देखा है। मैं शर्म और बेशर्मी से ऊपर उठ गयी हूँ । आप जैसा उचित समझें, बैठ जायँ। मैं अभी उठती हूँ।

रमेश : आप चिन्ता न कीजिए। हमारा कैम्प वह सामने ही है।

माया : कैम्प ?

रमेश : मेरा मित्र शिकारी है। मैं भी इस बार उस के साथ चला आया हूँ, इन पहाड़ियों का सौन्दर्य देखने। उस ने स्थायी रूप से यहाँ एक कैम्प बनवा रखा है। धनवान है और किसी प्रकार की चिन्ता नहीं। (हँसता है।) हम शिकार से लौट रहे थे कि यह सुनहला चाँद इन पहाड़ियों के पीछे से निकला। इन पहाड़ियों में इतना बड़ा चाँद मैंने पहली बार देखा है। इस की पीली-पीली चाँदनी में बन की बहार देखने को मैं रुक गया। तभी मैंने आप का गाना सुना।

माया : गाना ! (थकी हुई हँसी के साथ) अपनी शक्तियों को बिखरने से बचाने के लिए, ज़ीने के अन्तिम प्रयास में मैं गा रही थी। कई दिनों से मैं इसी गीत के सहारे चली आ रही हूँ। जब मेरे अंग थक जाते हैं, जीवन-शक्ति बुझती-सी प्रतीत होती है, मैं यह गीत गाने लगती हूँ। इसे गाते-गाते भूली-बिसरी, बिखरी-धुँधली यादें अतीत की गहन गुफाओं से निकल मेरे सामने आ जाती हैं। उन्हीं में खोकर मैं अपनी सारी थकान भूल

जाती हूँ और यह विचित्र बात है कि जब मैं एक-दो बार यह गीत गा चुकती हूँ, तो चलने योग्य हो जाती हूँ।

(शंकर तेज़ी से आता है)

शंकर : अरे, तुम यहाँ हो, रमेश ! वह कहाँ है ? अरे, आप यहाँ हैं ! पर आप यहाँ क्यों लेटी हुई हैं ? वहाँ चलिए न, बिस्तर पर आराम कीजिए। इस निर्मम चट्टान पर......

माया : (उठते हुए हँसती है।) मानो पहले तो मैं फूलों की सेज पर सोती आयी हूँ। थक गयी थी, इसलिए लेट गयी। चलिए !

[शंकर उसे बाँह में भरकर ले चलना चाहता है, किन्तु उस के स्पर्श से ही वह चौंक पड़ती है और उस की आँखों में क्रोध की ज्वाला-सी लपलपा उठती है।]

रमेश : (बढ़कर शंकर को खींचता हुआ) हम आगे-आगे चलते हैं, आप पीछे-पीछे आ जाइए।

माया : (लपलपाती ज्वाला अचानक मीठी-मीठी आँच में परिणत हो जाती है। माया बढ़कर रमेश के कन्धे का सहारा ले लेती है।) आप मुझे सहारा न देंगे, तो मैं चल न सकूँगी। स्वयं चलने की शक्ति अब मुझ में नहीं रही।

[दोनों धीरे-धीरे चले जाते हैं। शंकर वहीं खड़ा रहता है। उन दोनों को देखता रहता है। फिर क्रोध से झुँझला कर चट्टान पर से रमेश की बन्दूक उठाता

है और माया का निशाना बनाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण हवा में गोली छोड़ देता है। रमेश और माया दोनों चौंक कर काँप उठते हैं। शंकर का ठहाका वायुमंडल में गूँज रहा होता है कि बादल का एक टुकड़ा चाँद पर छा जाता है। धीरे-धीरे स्टेज का प्रकाश भी मन्द से मन्दतर होकर अँधेरे में बदल जाता है।]

दूसरा दृश्य

[धीरे-धीरे स्टेज पर प्रकाश हो जाता है। दृश्य वही है, केवल प्रातः के प्रकाश ने उसे संध्या से अधिक सुन्दर बना दिया है। दूर हिमालय के हिमावृत शिखर जगमगा रहे हैं। समीप पेड़-पौधे सरसरा रहे हैं। रमेश चट्टान पर बैठा है और शंकर उस के निकट व्यग्रता से घूम रहा है।]

शंकर : अभी वह स्वस्थ नहीं हुई, पर उस के भूखे अंग भर रहे हैं। उस के गालों की सफ़ेदी हल्की-हल्की लाली में बदल रही है। उसकी आँखों की चमक वापस आ रही है और...और... (मुट्ठियाँ भींचते हुए) मेरा उन्माद...मेरा उन्माद मेरी नसों में उबलती हुई आग बन रहा है।

रमेश : (दूर हिमालय के हिमावृत्त शिखरों को देखते हुए) वह इस लोक की लगाती ही नहीं शंकर।

शंकर : उस का नाम क्या है ? तुम ने उस का नाम नहीं पूछा ?

(कैम्प की ओर जाता है।)

रमेश : (उठ कर उस के पीछे जाते हुए) शंकर !

शंकर : (रुककर उस के कन्धे को थपथपाते हुए) मैंने जगल में कितने सुन्दर पक्षियों का शिकार नहीं किया ? वे मोर कितने सुन्दर थे– उन की लम्बी बाँकी गर्दनें और पंख—इन्द्रधनुष के सातों रंग उन पर न्योछावर किये जा सकते हैं। वे रंग-बिरंगी मुरग़ाबियाँ और हिम-जैसे श्वेत राज-हंस, न-जाने किधर से आ रहे थे और किधर जा रहे थे, पर मैंने कभी उन की पूजा नहीं की, उन्हें अपनी गोली का शिकार बनाया और फिर (हँसता है।) कई भोली-भाली हिरनियाँ मेरे मार्ग में आयीं और शिकार बन गयीं।

रमेश : तुम जन्म के शिकारी हो !

शंकर : और तुम जन्म के कवि ! मेरे निकट तो माया भी एक भूली भटकी हिरनी है।

रमेश : माया माया है। (दीर्घ-निश्वास लेता है।) उस के काँपते-से लाल-लाल ओंठ, उस का बाँस की कोंपल-सा सुकोमल शरीर, जंगल के आशा-भरे टिमटिमाते दिये-सी उस की आँखें—वह इस दुनिया की लगती ही नहीं शंकर ! उसे देखकर जी होता है कि प्यारी-प्यारी कविताएँ लिखूँ, कि हल्की-हल्की, मीठी-मीठी पीड़ा उन कविताओं में भर दूँ, कि......

शंकर : मुझ पर तो उसे देखते ही उन्माद सा छा जाता है। शिकार की धुन मेरी नसों में उबलती हुई आग बन

जाती है। शराब के पहले घूँट की-सी लालसा......

रमेश : शंकर !

शंकर : (व्यंग्य से हँसता है।) तुम तो पागल हो। यों ही उसे आसमान पर चढ़ा रहे हो। वह केवल एक भोली-भाली हिरनी है, दुखी और बीमार; किन्तु... (शंकर की आँखों में एक अजीब उल्लास-भरी पाशविक चमक कौंध उठती है।) उस की थकान दूर हो रही है, उस के भूखे बीमार अंग भर रहे हैं और...और... मेरा उन्माद ...मेरा उन्माद...

रमेश : (क्रुद्ध होकर)—तुम पशु हो !

शंकर : पशु !

(ज़ोर से ठहाका मारता है।)

रमेश : मुझे तो जब उन मुसीबतों का ध्यान आता है, जो उस ने बमबारी के दिनों में सहीं; उन तीन सौ मीलों का ध्यान आता है, जो उस ने अपने सुकोमल पैरों से पार किये; उन खत्म न होने वाले दिनों का ध्यान आता है, जो उस ने जड़ी-बूटियाँ खाकर बिताये, तो मेरा मन एक अपार-श्रद्धा से भर जाता है।

शंकर : श्रद्धा नहीं, प्रेम कहो, प्रेम ! तुम्हें उस से प्रेम हो रहा है, कम्बख्त !

रमेश : (अपनी रौ में) दया का एक अपार समुद्र मेरे हृदय में उमड़ आता है।

शंकर : दया नहीं, प्रेम...प्रेम ! (हँसता है।) तुम उस से प्रेम करने लगे हो, कम्बख्त !

रमेश : प्रेम...

शंकर : संसार की सब से बड़ी कायरता......मैं तो जब उसे देखता हूँ, सब कुछ भूल जाता हूँ। मुझे उन्माद-सा होने लगता है...जी चाहता है...जी चाहता है... (उल्लास से रमेश की बाँह को झकझोर कर) जानते हो, आज मैंने उस के कन्धे को तनिक छुआ, उस का समस्त शरीर हल्का सा काँप उठा...किन्तु समय आयगा ...समय आयगा रमेश, (हँसता है।) मैंने उस के लिए नयी बन्दूक मँगायी है। मैं उसे शिकार करना सिखाऊँगा और ...और शिकार करूँगा।

[रमेश की पीठ थपथपाते और हँसते हुए चला जाता है।]

रमेश : (प्रेम और घृणा के मिश्रित स्वर में, ओठों में हँसते हुए) पशु !

[कुछ क्षण बाद नीचे पगडंडी से माया गीत गाते हुए आती है :]

माया : आँसुओं से आज भीगा प्यार मेरा।
मिट गया सुख का सजा संसार मेरा।
इस गगन के पक्षियों के संग मैंने गान गाये,
और सपने बादलों के संग मैंने थे सजाये,
लुट गये वे, रह गयी मैं, रह गया संसार मेरा।
आँसुओं से आज भीगा प्यार मेरा।

[रमेश फिर चट्टान पर बैठने लगता है कि माया को देखकर उठता है।]

रमेश : आप ... आप को तो अभी कुछ दिन आराम करना चाहिए।

माया : (चौंकती है)—ओह आप ! मैं क्या करूँ, मैं आराम करते-करते ऊब गयी थी। (हँसती है।) मनुष्य को किसी कल चैन नहीं। कभी वह चलते-चलते थक जाता है, कभी आराम करते-करते। मैंने सोचा, बाहर बैठ कर धूप का आनन्द लूँ।

[आकर चट्टान पर बैठ जाती है। रमेश उठ खड़ा होता है और बातें करता हुआ व्यग्रता से हाथ धोने के अन्दाज़ में हाथ मले जाता है।]

रमेश : आपने ठीक ही सोचा। धूप का आनन्द भी वास्तव में पहाड़ों पर ही आता है। यहाँ धूप, निठुर संगिनी की तरह जलाती नहीं, सहृदय की भाँति मीठी-मीठो, प्यारी-प्यारी गर्मी पहुँचाती है। जमे हुए भाव बह निकलते हैं और अनायास मन गाने को हो उठता है। किन्तु आप सदैव यही गीत क्यों गाती हैं ?

माया : मुझे यह अच्छा लगता है।

रमेश : जब हम पहली बार मिले थे, जब भी आप यही गीत गा रही थीं। सच कहता हूँ बड़ा दर्द-भरा गीत गाती हैं आप ! जी को कुछ होने-सा लगता है। आप को यही गीत क्यों पसन्द है ?

माया : मेरे जीवन की कहानी जो कहता है यह गीत।

रमेश : किन्तु उस दुख-भरी कहानी को याद करके दुःख पाना कोई अच्छी बात है ? जो बीत गया, सो बीत गया। अब उसे याद करने से लाभ ! (उस के निकट ही चट्टान पर बैठ जाता है।) समझदार लोग खंडहरों में नहीं घूमा करते, नये महल बनाते हैं।

माया : मैंने खंडहरों पर ही नये महल बनाये थे, पर उन्हें फिर खंडहर बनते देर नहीं लगी। यह गीत उन्हीं खंडहरों की कहानी कहता है। इसे गाते-गाते मेरे टूटे हुए महल नये सिरे से बन-बन कर मेरे सामने आने लगते हैं, मन को एक विचित्र-सान्त्वना-सी मिलती है।

रमेश : काश कि मैं आप का दुख बँटा सकता, इस पिघले हुए दुख में डूबकर उसे अपना सकता!

माया : आपने मेरा दुख खूब बँटाया है। आप के दिलासों ने मेरा साहस बँधाया है। आप को मैं अपना सारा दुख-दर्द सुना देती हूँ, किन्तु आप के मित्र से मुझे...... उन की आँखों में न-जाने क्या है कि मुझे...... मुझे उन से डर लगता है।

रमेश : वह शिकारी है।

माया : (अतीत की गहन गुफाओं में झाँकते हुए)— मैं भी कभी शिकार को पसन्द करती थी। पिताजी के साथ बड़े शौक से शिकार पर जाती थी, किन्तु अब शिकार और शिकारियों से मैं घृणा करती हूँ। यदि आप न होते, तो मैं एक दिन भी यहाँ ठहर न पाती। भूखी-थकी, जैसी भी थी, चली जाती, फिर चाहे मार्ग में ही कहीं मेरे प्राण निकल जाते......किन्तु आप...... आप में मुझे मदन की झलक मिली है।

रमेश : मदन!

माया : (दीर्घ-निश्वास लेती है) उसे पाकर मैंने जीवन के

खंडहरों पर नयेसिरे से महल बनाने के सपने देखे थे।

[शंकर अपने खेमे से हँसता हुआ एक नयी बन्दूक लिये हुए आता है।]

शंकर : लो भई, आ गयी तुम्हारी बन्दूक। आओ, मैं तुम्हें शिकार करना सिखा दूँ।

(हाथ खींच कर उसे चट्टान से उठाता है।)

माया : आपने वृथा ही कष्ट किया, मुझे शिकार में तनिक भी दिलचस्पी नहीं।

शंकर : शिकार से अच्छा कोई खेल नहीं, कोई विनोद नहीं; और मैं तो कहता हूँ, कोई नशा भी नहीं। एक बार लग जाय, तो मनुष्य संसार की सुध-बुध भूल जाता है।

माया : (बन्दूक वापस देते हुए) शिकार-शिकार में भेद है... और फिर मैं इसे पसन्द नहीं करती।

शंकर : तुम कुछ दिन मेरे संग शिकार पर चलो, फिर देखना कि तुम्हारा स्वास्थ्य कुछ ही दिनों में कितना सुधर जाता है।

माया : (बन्दूक लौटाते हुए) शिकार में मेरी तनिक भी रुचि नहीं।

शंकर : किसी कला से अरुचि उसके प्रति अज्ञान का दूसरा नाम है।

माया : मैंने इतना शिकार देखा है कि मैं इस से घृणा करने लगी हूँ।

(बन्दूक चट्टान पर रख देती है।)

शंकर : (उसकी बात अनसुनी करते हुए) बन्दूक उठा लो।

कोई कला जब तक पूर्ण-रूप से न आ जाय, अच्छी नहीं लगती। (एक बड़ा सा पत्थर पहाड़ी पर कुछ ऊपर को रखते हुए) तुम्हें ज़रा शिस्त बाँधना तो आ जाय, फिर देखना कि तुम कैसे निशाने लगाती हो (बन्दूक उठाकर उसे देते हुए) लो, थामो बन्दूक, मैं तुम्हें शिस्त बाँधना सिखाता हूँ। तुम हट जाओ भाई रमेश बीच से, कहीं फोकट में मारे जाओ।

[हँसता है। रमेश चट्टान से उठ कर एक ओर हो जाता है, माया अन्यमनस्कता से बन्दूक उठाती है।]

— : कुन्दे को सीधे कन्धे पर रख कर शिस्त बाँधो...हाँ, हाँ...रखो !

[माया उसी तरह अनमने भाव से बन्दूक उठा कर कन्धे पर रखती है।]

— : हाँ, हाँ, इसी तरह ! (उस के साथ सट कर उसके हाथ ठीक करते हुए) यह हाथ ऐसे नहीं, ऐसे होना चाहिए और देखो, कुन्दे को कन्धे के साथ खूब दबा कर रखो। जब फ़ायर होता है, तो बन्दूक पीछे को हटती है। उस समय यदि कुन्दा कन्धे के साथ सटा हुआ न हो, तो कभी गर्दन और कभी ठोड़ी पर बुरी तरह झटका लगता है।

माया : (बन्दूक उठाती है, लक्ष्य बाँधना चाहती है, किन्तु जैसे उकताकर फिर बन्दूक रख देती है) क्या मुसीबत है।

शंकर : (फिर उसे बन्दूक देते हुए) मुसीबत-उसीबत कुछ

नहीं। बस एक दो फ़ायर करने से तुम सीख। जाओगी। बाँधो शिस्त।

माया : (बन्दूक लेकर उसे खोल कर देखती है।) किन्तु यह तो खाली है।

शंकर : (हँसता है।) अभी कारतूस भरने की आवश्यकता नहीं। पहले निशाना बाँधना तो सीखो (उसके निकट आकर लक्ष्य बाँधना सिखाने के बहाने उसे बाँहों के घेरे में लेकर बन्दूक थामते हुए) शिस्त में से नाल पर लगी हुई उस मक्खी को देखो और मक्खी में से पत्थर को — शिकार मक्खी और शिस्त, ये तीनों एक सेध में होने चाहिएँ।

[माया उस की बाँहों के घेरे में बेकल होकर क्रोध से उस की ओर देखती है। उस की आँखों की मीठी-मीठी आँच फिर लपलपाती ज्वाला बन जाती है। शंकर हँसकर अलग हो जाता है।]

— : तुम्हारी आँखों में ऐसा जादू है कि पत्थर अपने-आप तुम्हारा निशाना बन जायगा।

(हँसता है।)

— : रमेश कहा करता है—किसी सुन्दर मूर्ति को देखकर इच्छा होती है कि उस के चरणों पर न्योछावर हो जायँ। क्यों रमेश !

[रमेश के मुख पर एक रंग आता है, एक जाता है।]

— : पर रमेश तो बहुत-सी बातें कहा करता है। छोड़ो

उसे । निशाना बाँधो । पत्थर की जगह शेर, भालू या आदमी हो, तो उसका भी निशाना बाँधो, (दुष्टता से रमेश की ओर देख कर आँख दबाता है ।) ध्यान बस इतना रखो कि जिस वस्तु का निशाना बाँधना हो, वही सामने रहे । आँख के निशाने पर आँख और दिल के निशाने पर दिल ! आदमी का शिकार पत्थर या पशु-पक्षी के शिकार से कम दिलचस्प नहीं ।

माया : (उसी तीव्र-दृष्टि से उस की ओर देखते हुए, बन्दूक चट्टान पर फेंक देती है) मैंने शिकार बहुत देखा है और मुझे उस से असीम-घृणा है ।

[चट्टान पर बैठ जाती है और फिर जैसे अतीत के धुँधलकों में खो जाती है ।]

— : कभी मैं भी शिकार को दिलचस्प समझती थी । कहीं यदि आप लोग बमबारी के दिनों में रंगून में होते; निहत्थे लोगों को हवाई जहाजों में छिपे शिकारियों की गोलियों का शिकार बनते देखते; तो आपको इस शिकार की दिलचस्पी और उस की यथार्थता का पता चल जाता ।

शंकर : (हँसता है ।) मैं इस की यथार्थता को अच्छी तरह समझता हूँ । शिकार मनुष्य का स्वभाव है और बस ! वह शिकारी पहले है और मनुष्य पीछे ।

रमेश : क्यों इन्हें परेशान करते हो शंकर ?

शंकर : क्या मैं झूठ कहता हूँ ?

[आकर बन्दूक उठाता और उस की मिट्टी पोंछता है ।]

शंकर : प्रकृति दिन-रात शिकार और शिकारी ही का खेल तो खेलती रहती है। क्या शेर-हाथी शिकार नहीं करते ? और शेर-हाथी जिन का शिकार करते हैं, क्या वे अपने से दुर्बल जीव-जन्तुओं का शिकार नहीं करते ? यह भोली-भाली निरीह चिड़िया तक असंख्य कीड़े-पतंगों का शिकार करती फिरती है। महात्मा बुद्ध इस शिकार को देखकर राज-पाट छोड़ बैठे थे, परन्तु मैं यह सब देखकर बन्दूक को और भी दृढ़ता से हाथों में पकड़ता हूँ। (हँसता है।) और मेरा निशाना कभी नहीं चूकता। शिकार करना मैंने प्रकृति से सीखा है।

रमेश : (उठते हुए) अरे, हटाओ अपना यह जंगली दर्शन। माया देवी, आइए ! मेरे साथ आइए ! आप को यह शिकार-उकार शोभा नहीं देता।

[आकाश में सारसों की एक पंक्ति उड़ती हुई चली जाती है।]

— : आकाश में उड़ते हुए भोले-भाले सारसों की इस पंक्ति को देखो शंकर, इन की लम्बी-लम्बी सुन्दर गर्दनों, इन के उजले-उजले श्वेत पंखों को देखो। क्या यह सुन्दर-दृश्य कभी भुलाया जा सकता है ? क्या इन में से एक को भी गोली का निशाना बनाया जा सकता है ? यदि ये इन में से एक को भी मार गिरायँगी, तो क्या इस पंक्ति का वह घाव इन के मन का घाव न बन जायगा ?

शंकर : (हँसकर)—मैं कहता हूँ...

रमेश : तुम यह खूनी खेल शौक से खेलो। आइए मायादेवी, मैं आप को इस सुन्दरता का दर्शन कराता हूँ, इस का वह भेद बताता हूँ, जो शंकर वर्षों यहाँ की ठोकरें खाकर भी नहीं जान पाया।

[माया के नेत्रों में घृणा की ज्वाला, जो शंकर की कुचेष्टाओं के कारण प्रज्ज्वलित हो उठी थी, धीरे-धीरे रमेश की बातों से फिर मीठी-मीठी-सी आँच में परिणत हो जाती है। वह उठती है।]

माया : (रमेश का कंधा थामते हुए) चलिए।

रमेश : (उसे सहारा देकर पहाड़ी की ओर ले जाते हुए) इस खेल को शिकारी की नहीं, शिकार की दृष्टि से देखना चाहिए।

माया : (चलते-चलते) मैंने देखा है, मैंने इसी प्रकार की गोलियों से बीसियों को मौत के घाट उतरते देखा है। मैंने माताओं को देखा है, जो गोलियों की वर्षा में लोहू में लथपथ, मृत-बच्चों को वक्ष से लगाये भाग रही थीं और मैंने शिकारियों को देखा है, जो हवाई जहाज़ों में बैठे गोलियों की वर्षा करते थे और दिखायी न देते थे।

रमेश : (ज़ोर से ठहाका मारते और उनके साथ-साथ चलते हुए) परमात्मा कब दिखायी देता है, परन्तु उसके क्रोध की गोलियाँ निरस्त्र और विवश लोगों पर निरन्तर बरसती रहती हैं। प्रकृति स्वयं शिकार और शिकारी का खेल खेलती रहती है। इस प्रकृति का निर्माता शिकारी है—मात्र एक शिकारी !

(तीनों पहाड़ पर चढ़ते हैं।)

रमेश : (चोटी पर पहुँच कर चारों ओर संकेत करते हुए) इस पहाड़ी पर खड़े होकर तनिक चारों ओर दृष्टि तो डालो। क्या इस प्रकृति का निर्माता मात्र एक शिकारी है ? इस विशाल-सौन्दर्य को देखो ! इन गाते नाचते झरनों, इन ठहाका मारते प्रपातों, इन मदमत्त पेड़-पौधों और इन उड़ते-मुड़ते पक्षियों को देखो ! देखो कि सामने घाटियों में बादल किस तरह एक दूसरे के पीछे उठे आ रहे हैं। देखो कि इधर तराई में नदी की श्वेत चादर मस्त-पवन के परस से कैसे लहरिए बना रही है। और उधर हिमालय की हिम-मंडित चोटियाँ किस पवित्र-ज्योति से जगमगा रही हैं ! क्या इन सब का बनाने वाला एक शिकारी है ? मैं पूछता हूँ, क्या किसी शिकारी का तीर इस सुन्दरता को छू भी सकता है ?

शंकर : (ठहाका मारता है) कहीं तुम दिसम्बर या जनवरी में यहाँ आओ तो इस शिकारी के तीरों को देखो। देखो कि किस प्रकार उन्होंने तुम्हारी इस सुन्दरता के वक्ष को छलनी बना दिया है। इन पेड़ों की एक एक डाली और इन पौधों का एक-एक पत्ता घायल हो गया है। पक्षियों के गाने चीखें बन गये हैं और हवा के तराने उखड़- ड़ी साँसें ! (हँसता है।) मौत की तरह पतझड़ भी उस महा-शिकारी के तरकश का एक तीर है। पतझड़ मृत्यु का ही दूसरा रूप है।

रमेश : पतझड़ और मृत्यु, ये दोनों उस महा-शिकारी के तीर

नहीं, उस महान रासायनज्ञ की रसायनशाला के आसव हैं, सृष्टि के शरीर से झुर्रियों को मिटाकर उस में नित नया रक्त भरते हैं—सूखे पत्ते झड़ जाते हैं, इसलिए कि नये आयें और जीवन की यह अमर-बेल सदैव फलती-फूलती, झूमती-झामती चली जाय!

[शंकर माया की ओर देखता है जो मन्त्रमुग्ध-सी रमेश की ओर देख रही है। सहसा उसकी आँखों में एक पाशविक-सी चमक कौंध उठती है।]

रमेश : (अपनी भावना की रौ में) इस सुन्दर चोटी से तनिक आकाश की ओर तो देखो......

शंकर : (उसे कन्धे से पकड़ कर) तुम इसे सुन्दर कहते हो ! आकाश से आँखें हटाकर ज़रा धरती की ओर तो देखो !

(उस के सिर को बरबस खड्ड की ओर झुका देता है।)

— : तुम इसे सुन्दर कहते हो ? इस भयानक, गहरी, अँधेरी खड्ड को, जिस के शरीर पर तेज़ नुकीली चट्टानें बड़े-बड़े भयानक काँटों-सी उभरी हुई हैं। (रमेश को ज़रा-सा धक्का देने की चेष्टा करते हुए) अभी ज़रा-सा तुम्हारा पाँव फिसल जाय, तो......

माया : (भय से चीख कर) शंकर जी !

शंकर : (ज़ोर से ठहाका मारकर) उतर आओ, इस चोटी से नीचे उतर आओ। अभी मैं तुम्हें ज़रा-सा धक्का दे देता तो तुम इस खड्ड के सौन्दर्य की यथार्थता जान जाते। (हँसता है।) जीवन में पग पग पर ऐसी अँधेरी

गहराइयाँ हैं। आकाश की ओर देखने वाले उन्हें नहीं जान सकते। चले आओ।

रमेश : (भौंचका-सा) शंकर !

शंकर : (पागलों की भाँति उसे लगभग घसीट कर नीचे लाते हुए) चले आओ, कहीं मैं सचमुच ही तुम्हें धक्का न दे दूँ और घायल होकर सुन्दरता के चरणों में फड़फड़ाने की तुम्हारी पुरानी साध सचमुच ही पूरी न हो जाय।

[शंकर रमेश को घसीटता हुआ नीचे लाता है। माया भयभीत-सी पीछे भागी आती है। स्टेज पर तुरन्त अँधेरा छा जाता है।]

तीसरा दृश्य

[धीरे धीरे स्टेज पर प्रकाश होता है । साँझ का समय है, साये गहरे हो रहे हैं। मन्द-मन्द समीर बह रही है और बाँस के पेड़ हल्की-हल्की सीटियाँ भर रहे हैं। पर्दा उठने पर रमेश पहाड़ की चोटी पर टहलता दिखायी देता है। कुछ क्षण वह उसी प्रकार टहलता रहता है, फिर आकाश के शून्य की ओर मुँह करके—सम्भवतः दूसरी ओर की घाटी का निरीक्षण करने के अभिप्राय से—टाँगे फैलाकर बैठ जाता है। कुछ क्षण बाद खेमे से माया के आकुल चीत्कार का स्वर आता है—'रमेशजी', 'रमेशजी',...फिर माया उद्विग्न अस्त-व्यस्त खेमे से भागी आती है। उसके पीछे-पीछे शंकर आता है। वह आकर चट्टान पर बैठ जाती है और मुँह घुटनों में ले लेती है। शंकर आकर धरती पर उसके पैरों में बैठ जाता है।]

शंकर : माया !

[माया उत्तर नहीं देती, मुँह घुटनों में लिये बैठी रहती है।]

—: मुझे क्षमा कर दो!

[उसके पाँव खींच लेता है और अपना सिर उस के घुटनों पर झुका देता है।]

—: न जाने मुझे क्या हो जाता है, मैं अपने-आपे में नहीं रहता।

माया : मुझे छोड़ दीजिए। आप जाइए।

शंकर : कह दो, तुमने मुझे क्षमा कर दिया।

(माया चुप रहती है।)

—: मैं रमेश की भाँति कवि नहीं। दोपहर की मीठी-मीठी धूप और थकी हुई साँझ की स्वप्निल छाया ने कभी मेरी आँखों में सपनों के संसार नहीं बसाये। शिकार की व्यग्र-भावना तरुण झंझा-सी मुझे जंगल-जंगल लिये फिरती है, और जब मैं साँझ को लौटता हूँ, तो नींद किसी तेज़-मदिरा की भाँति स्वप्न और सत्य दोनों को किसी गहरे अथाह अन्धकार में छिपा देती है। परन्तु माया, जिस दिन से तुम आयी हो, नींद की शराब फीकी हो गयी है और अनजाने सपने इस गहरे निबिड़ अन्धकार में झिलमिलाने लगे हैं।

माया : आप मुझे छोड़ दीजिए। आप जाइए।

~~रमेश~~ : (धीरे धीरे उस के पाँवों को सहलाते हुए) माया!

माया : देखिए, आकाश में पक्षी मँडराने लगे हैं। अपने प्रिय आमोद से मन बहलाइए। मुझे क्षमा कीजिए। मेरा शिकार करने......

शंकर : तुम्हारा शिकार ! तुम क्या कहती हो, माया ! मैं तुम्हारा शिकार नहीं करना चाहता, मैं तो स्वयं शिकार हो जाना चाहता हूँ। बिन्दु बनकर तुम्हारी इस सुन्दरता के अथाह-सिन्धु में खो जाना चाहता हूँ। मेरी लघुता को अपनी गुरुता में, मेरी सीमा को अपने असीम में छिपा लो। एक घायल पक्षी-सदृश मुझे अपने करुणामय सीने से लगा लो।

[एक ही बार माया को बाँहों में भर लेना चाहता है कि माया तिनक कर उठ खड़ी होती है। हाथ से शंकर को पीछे धकेल देती है।]

माया : होश में आइए !

[शंकर अनायास फिर आगे बढ़ता है। क्रोध से थरथराती हुई एक हल्की-सी चीख़ माया के ओंठों से निकल जाती है।]

— : रमेश जी......रमेश जी !

[चोटी पर बैठा हुआ रमेश चौंक पड़ता है। अपनी दुर्निवार लालसा के बहाव में शंकर माया से लिपट जाना चाहता है कि रमेश को देख कर सम्हल जाता है।]

रमेश : (आते हुए)—क्या बात है शंकर ?

माया : (दुख और क्रोध की तीव्रता से रो पड़ती है) क्या मैं यही सब देखने के लिए इतनी मुसीबतों के बाद भी बच गयी !

शंकर : (खिसियाना-सा) मुझे क्षमा कर दो, माया ! जाने मुझे कभी कभी क्या हो जाता है।

[घबराया हुआ-सा खेमे की ओर चला जाता है।
रमेश माया के समीप आकर निमिष-भर मौन खड़ा
रहता है, फिर उस के कन्धे को थपथपाता है।]

रमेश : बस, बस, बात क्या हुई ?

[माया चेहरे से हाथ उठाती है। उस के नेत्र
निःशब्द बरस रहे हैं और उनके आकाश में क्रोध की
विद्युत् रह-रहकर कौंध उठती है।]

माया : अभी वह मुझे...अभी उसने मुझे...यदि मैं आपका नाम लेकर चीख न मारती, तो जाने क्या हो जाता ? मैं इसी क्षण यहाँ से चली जाऊँगी। किसी के दुर्भाग्य का अनुचित लाभ उठाना, उसे यों दुखी करना— वह मनुष्य है या पशु !

(चलना चाहती है।)

रमेश : (उसे रोकते हुए) वह केवल पागल है। कई बार वह जोश में आकर मूर्खता कर बैठता है। आप जल्दी न कीजिए, मैं उसे समझा दूँगा। मेरे रहते वह आप को कुछ भी नहीं कह सकता, आपको रत्ती-भर कष्ट नहीं पहुँचा सकता।

माया : मैं अब तक तरह-तरह से टालती रही। आपसे भी मैंने कभी शिकायत नहीं की। सोचती थी, मुसीबत के ये चन्द दिन किसी-न-किसी-तरह काट लूँगी, इतने में मदन आ जायगा। पर वह नहीं आया, (दीर्घ-निश्वास लेती है।) वह अब कभी न आयगा ! मैं एक पल भी यहाँ न रहूँगी।

(हाथ छुड़ाकर जाना चाहती है।)

रमेश : माया देवी......

माया : (वर्षा रुक जाती है, किन्तु बिजली बराबर कौंधे जाती है)—आप लोगों ने मुझे समझा क्या है? आपने समझा कि मैं कोई नीच, तुच्छ, बाज़ारी कुतिया हूँ कि चन्द टुकड़ों के लिए दुम हिलाती हुई मैं आप के पैरों में लोटती रहूँगी !

रमेश : मायादेवी, यह आप क्या कह रही हैं? आप...आप मुझे बड़ा दुख पहुँचा रही हैं। मेरे मन के मन्दिर में तो आप देवी के आसन पर विराजमान हैं। मैं तो पुजारी बना प्रतिक्षण आप की पूजा करता हूँ और आप कहती हैं कि आपको नीच......

[जोश से रमेश का कंठ रुँध जाता है। उस की आँखें छलछला उठती हैं। माया निमिष-भर के लिए उस की ओर देखती रहती है, फिर विवशता से मुड़कर चट्टान पर जा बैठती है। आँखें बन्द कर लेती है। वर्षा सिसकने लगती है]

माया : क्षमा कीजिए...मैं अपने होश में नहीं हूँ। एक प्रबल बहिया में डूबती-उतराती चली आयी हूँ...अपने आसपास देखने तक का अवसर नहीं मिला। सोचती थी—यहाँ कुछ समय रहूँगी, आप की सहानुभूति की छत्रछाया में कुछ दिन विश्राम करूँगी, इतने में मदन आ जायगा; पर मदन अब नहीं आयगा...'नाहूँग' की लहरें शायद उसे सदैव के लिए निगल गई !

[और भी जोर से रो पड़ती है। रमेश उस के कन्धे को थाम कर उसे बिठा देता है और धीरे-धीरे आश्वासन देता हुआ उस के सिर को अपने वक्ष से लगा लेता है और उसे थपक कर सान्त्वना देता है।]

रमेश : बस बस...बस बस...घबराइए नहीं, वह जरूर आयगा। ..'नाहूँग' कहाँ है ?...मदन वहाँ कैसे खो गया ? आपने कभी कुछ बताया ही नहीं। आप बतायँ तो मैं उसे जैसे भी हो, ढूँढ कर ले आऊँगा। मदन कौन था ? आपका......आपका......

माया : (मदन के नाम से जैसे अतीत के पृष्ठ उस के सम्मुख खुल जाते हैं। वह रमेश के वक्ष से सिर हटा लेती है और शून्य में देखने लगती है।) मदन मेरा कोई न था और वह मेरा सब-कुछ था। ...वह सब का था। वह एक भला और साहसी युवक था, जो दूसरों के लिए कुर्बान हो गया।

[उस की सिसकियाँ अपने-आप बन्द हो जाती हैं। आँसू बहते हैं, पर वह उन्हें पोंछने की चेष्टा नहीं करती और वे बहते-बहते अन्त में उसके गालों पर रुक जाते हैं। दीर्घ-निश्वास भरती है]

—: उसी के संग मैंने जीवन के खंडहर पर नये सिरे से महल बनाने का प्रयास किया था, परन्तु उसे फिर खंडहर बनते देर न लगी !

[फिर निमिष भर के लिए रुकती है, जैसे अतीत के मलबे से कुरेद कर सुधियाँ निकाल रही हो। ओठों

पर पछतावे की दुख-भरी मुस्कान झलक उठती है।
रमेश दत्तचित्त सुनता है।]

— : जब मैंने पहले-पहल उसे देखा, तो मुझे उसमें कोई विशेषता दिखायी न दी थी। वह सुन्दर था—खासा सुन्दर था, पर उस में कोई असाधारण बात न थी। उस काफ़िले में, जिसके साथ मैं भटकती हुई आ मिली थी, वह भी मेरी तरह अकेला था। उसका घर और सगे-सम्बन्धी भी मेरे घर और सम्बन्धियों की भाँति बमबारी की भेंट हो गये थे। वह खूब हृष्ट-पुष्ट था। चाहता तो दूसरों की सहायता करता, पर यह अजीब बात थी कि किसी की सहायता करने के बदले वह दूसरों के स्नेह का अनुचित लाभ उठाता और अपने इस कृत्य पर पछताने के बदले प्रसन्न होता था। काफ़िले वाले उस के व्यवहार से जलते थे, पर उस की खातिर भी करते थे। वह लम्बा, तगड़ा, बलिष्ट और साहसी युवक था और उन्हें काफ़िले के साथ ऐसे ही युवक की आवश्यकता थी। पर मुझे उसकी यह स्वार्थपरता बहुत बुरी लगी। एक दिन मेरी बारी न थी; परन्तु जिस स्त्री की बारी थी, वह बीमार हो गयी, इसलिए मैंने खाना पकाया, सब ने मेरी सहायता की, पर उसने तिनका तक न तोड़ा। जब खाना खाने का समय आया, तो वह सब से पहले आ बैठा और स्वभावानुसार हँसते और दूसरों की हँसी उड़ाते हुए खाना खाने लगा। उस समय तो मैं चुप रही; परन्तु जब वह खाना खा

चुका और अलग ले जाकर मैंने उसे डाँटा तो उसका मुँह ज़रा-सा निकल आया। वह लज्जित-सा हो गया और अपनी धृष्टता के लिए उसने मुझ से क्षमा माँग ली !

रमेश : आप क्रोध में हों, तो आप के मुख पर देवी का सा तेज झलकने लगाता है। (सरगोशी में) मैं सच कहता हूँ, मन ही मन शंकर भी आपसे डरता है।

माया : उस दिन के बाद जैसे वह एक दम बदल गया। न केवल यह कि उसने मुझे कभी काम न करने दिया, बल्कि सदा दूसरों का हाथ बँटाया और मैं समझी कि मुझे एक साथी मिल गया है। जीवन के खंडहरों पर मैं फिर से महल बनाने लगी। (निमिष-मात्र के लिए रुकती है।) न-जाने कितनी फुर्ती, कितना साहस, कितनी उदारता, कितनी संवेदना उसमें आ गयी ! वह न होता तो सारे का सारा काफ़िला मृत्यु की उस घाटी में समाप्त हो जाता। एक हरा-भरा स्थान देखकर हमने पड़ाव डाला। बैल खोले और सुस्ताने के लिए रुक गये। परन्तु घास विषैली थी। दोनों बैल मर गये। उस समय जब बहुतों की आँखों के सामने मौत नाच उठी, तो न जाने कहाँ से मदन बैल ले आया। न केवल यह, वरन् उसने एक नागा से मैत्री कर ली और वह नागा हमें 'नाहूँग' की सीमा तक छोड़ गया। यही भयानक नदी मदन को निगल गयी ! अपने साथियों को उससे पार लगाते-लगाते वह उसकी खूनी लहरों में बह गया।

रमेश : किसी ने उसकी सहायता न की ?

माया : मनुष्य कितना स्वार्थी हो सकता है, यह मुझे तभी मालूम हुआ। जब हम उस नदी पर पहुँचे, तो देखा कि उस पर कोई पुल नहीं, केवल एक मोटा रस्सा है, जो नदी के आर-पार वृक्षों से बँधा है। नदी में बाढ़ आयी हुई थी और उस रस्से के सहारे पार जाना जान-बूझकर मौत के घाट उतरना था। दो दिन तक काफ़िला नदी के तट पर पड़ा रहा। खाने-पीने की सामग्री समाप्त होने को थी। भूख-मौत सामने दिखायी दे रही थी। 'दोनों ओर मृत्यु है'—तीसरे दिन ऊब कर मैंने कहा—'क्यों न जीने के प्रयास में जान दें ?' बस मेरा यह कहना था कि मदन ने कमर कस ली। गाड़ी से बैल खोल कर सारा समान उसकी पीठ पर लादा और नदी में छोड़ दिया। फिर वह मुझे साथ लेकर रस्से के सहारे नदी में उतर पड़ा।

रमेश : आपको भय न लगा ?

माया : इतनी विपत्तियाँ मुझ पर टूटीं कि भय ने मुझे डराना छोड़ दिया था। और फिर मदन मेरे साथ था और उसके संग मरना भी मुझे स्वीकार था। वह स्वयं कहा करता था—'माया तुमने मेरा जीवन बदल दिया है। तुम्हारे लिए प्राण हथेली पर रखे मैं बड़ी-से-बड़ी मुसीबत का सामना कर सकता हूँ।' वह मुझे उसी रस्से के सहारे पार ले आया। पानी का रेला आता, रस्सा कमान की तरह झुकता और पीछे को हटता। मेरे हाथ छूट-छूट जाते,

पर मदन जोंक की भाँति रस्से से चिमटा रहा। पार पहुँच कर अभी उसने साँस भी न ली थी कि उसके साथी मदद के लिए गिड़गिड़ाने लगे। वह फिर चल पड़ा।

रमेश : (जैसे माया का दुख उस का दुख हो गया हो) उन्होंने उसका अनुकरण क्यों न किया? क्या वे स्वयं न आ सकते थे!

माया : एक दो तो आ गये, पर शेष में इतना साहस न था। शायद वे तैरना न जानते थे। मदन के हाथों में गट्टे पड़ गये, उसकी बाहें अकड़ गयीं, पर साँझ तक वह उन्हें पार लाता रहा। अन्त में वह एक रोगी बुड्ढे को ला रहा था कि ज़ोर का रेला आया। उसके पाँव उखड़ गये और वह रस्से को थामे लहरों के थपेड़े खाने लगा (फिर कंठअवरुद्ध हो जाता है।) मैं चिल्लायी, रोई, गिड़गिड़ायी, मैंने मिन्नतें कीं, परन्तु जिनको वह अपने प्राण संकट में डाल कर पार लाया था, वे वहाँ खड़े मुटर-मुटर तकते रहे। किसी में इतना साहस न हुआ कि कूद कर उसे सहारा दे। रस्सा ज़ोर से पीछे हटा और उसके हाथ भी छूट गये।

[माया के नेत्र फिर बरसने लगते हैं और उसका स्वर थरथरा जाता है।]

रमेश : वह मनुष्य नहीं, देवता था।

[कुछ क्षण दोनों मौन रहते हैं। रमेश बेचैन और उदास घूमता है और माया खोयी-खोयी-सी शून्य में तकती है।]

रमेश : हमने जब आपको देखा, तो आप नितान्त अकेली थीं, आपके साथी कहाँ थे ?

माया : मैं उनके साथ नहीं आयी, वहीं किनारे पर बैठी उसकी प्रतीक्षा करती रही। वह कुशल तैराक था और मेरा विचार था कि वह अवश्य तैर कर पार आ जायगा। पर उसकी बाँहें थक चुकी थीं और वह बुड्ढा, कदाचित् वह उससे मुक्ति न पा सका। साथियों ने खाना पकाया। मृत्यु इतनी साधारण हो गयी थी कि लोग उसके पास बैठे जीवन की पूजा करते थे ! और वे चल पड़े। मैं वहीं बैठी रही, उसकी प्रतीक्षा करती रही।

रमेश : (उसके समीप आकर बैठ जाता है और उसके दोनों हाथ अपने हाथों में ले लेता है।) मेरा मन तो भर आया आप की कहानी सुनकर। किन विपत्तियों से जूझना पड़ा आपको ! पर आप दुखी न हों। जीवन में हमें तनिक से सुख का मोल उस से कहीं अधिक दुख झेल कर चुकाना पड़ता है। इसीलिए तो सुख के क्षण इतने मीठे और मद-भरे होते हैं। आप को बड़ा सुख मिलेगा।

माया : (हाथ छुड़ाकर, रुलाई को रोकने के लिए, आँखों पर रख लेती है) मुझे कभी सुख न मिलेगा। मेरा सुख मदन के साथ चला गया !

रमेश : जीवन की नदी में हम सब लहरों से बहते हैं माया, कुछ देर साथ-साथ चलते हैं, फिर अलग हो जाते हैं, फिर मिलने के लिए या फिर कभी न मिलने के लिए।

बिछुड़ी हुई लहर का दुख कैसा, लाभ क्या ? और लहरें साथ आ मिलती हैं।

माया : यदि पता चल जाय कि हम सदा के लिए बिछुड़ गये तो कोई संतोष कर ले, पर सूक्ष्म ही सही, आशा का तार जो नहीं टूटता।

[रमेश फिर उसके दोनों हाथ अपने हाथों में ले लेता है। माया किसी तरह की आपत्ति नहीं करती।]

रमेश : वह अवश्य बह गया होगा। अच्छों को भगवान शीघ्र अपने पास बुला लेता है और बुरों को आप के मार्ग में डाल देता है।

(पृष्ठ भूमि में किसी के गाने का स्वर आता है)

आँसुओं से आज भीगा प्यार मेरा।"

— : यह कौन गा रहा है ?

[माया मन्त्र-मुग्ध सी सुनती रहती है। उसके हाथ रमेश के हाथों में हैं। गाने का स्वर और भी निकट आ जाता है:]

'इस गगन के पक्षियों के साथ मैंने गान गाये,
रजत सपने बादलों के संग मैंने थे सजाये !'

माया : (जैसे अपने-आप से) यह तो मदन की आवाज़ है ! (फिर जैसे अन्तर के उल्लास से दसों दिशाओं को सुनाते हुए) यह तो मदन की आवाज़ है !

[कन्धे पर बन्दूक रखे, गाता हुआ एक युवक चोटी की पगडंडी से उतरता है। माया और रमेश हाथ-में-हाथ दिये हुए मन्त्र-मुग्ध से बैठे हैं। सहसा उन्हें देख कर युवक गाना बन्द कर देता है और

जैसे वहीं चिपका-सा खड़ा रह जाता है। माया चौंकती है। हाथ छुड़ाकर प्रसन्नता से 'मदन' 'मदन' चिल्लाती उसकी ओर भागती है। रमेश खोया-सा खड़ा रह जाता है। स्टेज पर अन्धकार छा जाता है।]

—:o:—

चौथा दृश्य

[धीरे-धीरे स्टेज पर रोशनी हो जाती है। प्रातः की वेला है, सूर्य के निकलने में अभी बहुत देर है और वातावरण पर हल्का सा धुँधलका छाया हुआ है। हवा बन्द है और एक विचित्र प्रकार की घुटन, एक विलक्षण उत्सुकता वातावरण पर छायी हुई है। कैम्प से दो छायाएँ निकल कर बाहर आती हैं। उनकी बात चीत से जान पड़ता है कि माया और मदन हैं। माया तनिक आगे-आगे आ रही है और मदन कन्धे पर बन्दूक रखे उसके पीछे-पीछे।]

माया : हमें यहाँ से तुरन्त निकल जाना चाहिए, मदन! रात भर वह सोया नहीं। बन्दूक हाथ में लिये चक्कर लगाता रहा। मैं डरती हूँ, न-जाने उसके मन में क्या है? उन दोनों के जागने से पहले हमें बहुत दूर निकल जाना चहिए।

मदन : माया!

[चट्टान पर आकर रुक जाता है। एक पाँव चट्टान पर रख लेता है। माया मुड़ती है और उसका हाथ खींचती है।]

माया : तुम असमंजस में क्यों पड़े हो मदन, चलो, जल्दी करो।

मदन : (मदन मौन रहता है।)

माया : क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं ? मैंने तुम्हें सब बता दिया, कुछ भी नहीं छिपाया।

मदन : (मदन मौन रहता है।)

माया : मदन !

मदन : माया, तुम सुखी हो। (लम्बी साँस भरता है।) ज़िन्दगी थी या यों कहो, तुमसे मिलने की लालसा थी, मैं बच गया—नाहूँग की लहरों से, हिंस्र-पशुओं के जबड़ों से, युद्ध से भागते हुए निष्ठुर सिपाहियों और बर्बर नागाओं के चंगुल से। किन्तु तुम सुखी हो माया, मैं तुम्हें अपने साथ ले जाकर क्यों दुखी करूँ ?

माया : मदन, यह क्या कह रहे हो ? मैं तो स्वयं जाना चाहती हूँ। इस घड़ी, इसी पल ! मैं जा रही थी, रमेश मुझे रोक ही रहे थे कि तुम आ गये। तुम यहाँ न पहुँच जाते, तो मैं जाने कहाँ-कहाँ की ठोकरें खा रही होती। तुम नहीं जानते, मैंने ये दिन किस तरह काँटों की सेज पर बिताये हैं।

मदन : (उसकी ओर एकटक देखता है।) तुम पहले से कितनी सुस्थ और स्वस्थ दिखायी देती हो !

माया : तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए।

मदन : मैं प्रसन्न हूँ।

माया : (व्यंग्य से) वह तो तुम्हारी मुद्रा से ही स्पष्ट है! (पीड़ा और विवशता से हँसती है।) पर मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि यह स्वस्थता शारीरिक है, मेरा मन तो इतना अस्वस्थ है—इतना अस्वस्थ कि जितना उस समय भी न था, जब सप्ताह-भर से जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त मुझे कुछ खाने को न मिला था। यहाँ मुझे खाने-पीने की कमी नहीं रही। मीलों-पर-मील चलते आने वाले पाँवों को भी यहाँ कम आराम नहीं मिला। पर मेरा मन पहले से कहीं अधिक बीमार है। एक ओर तुम्हारी प्रतीक्षा ने और दूसरी ओर इस पागल शिकारी की हरकतों ने मुझे परेशान कर दिया है।

मदन : पागल...वह पागल नहीं, वह सिर्फ़ तुम से प्रेम करता है।

माया : मैं उससे घृणा कर

मदन : इस पर भी तुम इतने दिन उसके यहाँ मौज मनाती रहीं।

माया : (चीख उठती है) मदन, शंकर चाहे पागल न हो किन्तु तुम अवश्य पागल हो।

मदन : (दार्शनिक भाव से) प्रेम सभी को पागल बना देता है!

माया : (उसी प्रकार चीख कर) पर पत्थर नहीं! तुम पत्थर बन गये हो। (कुछ नर्मी से) मैं तुम्हें रात-भर समझाती रही हूँ कि यदि मैं अस्वस्थ और विवश न होती, यदि मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा न होती या फिर यहाँ रमेश न होते, तो मैं पल-भर भी यहाँ न रहती,

चलने योग्य होते ही चल पड़ती। पर तुम्हारे मन पर एक बात भी टिक नहीं पाती, पत्थर पर बूँद बन जाती है!

मदन : शंकर को न सही, तुम रमेश को पसन्द करती हो।

माया : (स्वर फिर ऊँचा हो जाता है) तुम यह कैसी बातें करते हो? तुम्हारे स्वर में यह कैसा विष घुला हुआ है? तुम्हारी आँखों में सन्देह के ये कैसे धुँधलके छाये हुए हैं? तुम साफ़ क्यों नहीं कहते, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं रहा। (पुनः नर्मी से) मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ, अपनी सारी भलाई के बावजूद रमेश मेरे लिए कभी वह नहीं रहा, जो तुम रहे। तुम्हारी प्रतीक्षा में, शंकर की अशिष्टता से बचने के लिए मैं रमेश का आश्रय लेती रही; परन्तु तुम,...... तुम्हारी आँखों पर छाये धुँधलके, सत्य के प्रकाश को देखना ही नहीं चाहते।

(मदन केवल चुप रहता है।)

— : मैं सच कहती हूँ, मैं दोनों से डरती हूँ। एक आकाश में बसता है। वह मुझे अपने साथ आकाश की ऊँचाइयों में लिये उड़ना चाहता है। दूसरा उस गहरे अँधियारे खड्ड से भी अंधकार-मय संसार का वासी है। उसका बस चले, तो न जाने मुझे किन अँधेरी गहराइयों में ले जाय! मैं दोनों से डरती हूँ। ऊँचाई या गहराई मेरा आदर्श नहीं। गहरे खड्डों और ऊँचे शिखरों से मैं ऊब गयी हूँ। मैं समतल धरती चाहती हूँ —समतल और सुखद!

[मदन मौन रहता है। माया के स्वर में और भी याचना भर जाती है।]

— : आशा थी कि यदि तुम बच गये तो इसी मार्ग से आओगे और जिस प्रकार हम ऊँची-नीची घाटियों में हाथ-में-हाथ दिये चले आये, उसी प्रकार समतल मार्गों पर भी हाथ-में-हाथ दिये एक साथ चलेंगे। तुम आये, तो मैं उछल पड़ी, मैं अपने-आपको भूल गयी। मुझे क्या पता था कि तुम इतना बदल गये हो, तुम्हें मेरे प्रेम पर विश्वास नहीं रहा !

मदन : विश्वास की बात नहीं माया, तुम जानती हो, अब मेरे पास दोनों समय खाने के लिए भी नहीं।

माया : जब हम मिले थे, उस समय तुम्हारे पास क्या था ? जब तुम ने मेरे संग मिल कर जीवन-नौका को खेने का प्रण किया था, उस समय तुम्हारे पास क्या था ? .....

मदन : परन्तु अब तुम्हारे पास...उन्होंने तुम्हें मरते-मरते बचाया, जीवन दिया, सुख दिया, वे धनी हैं।

माया : तुम्हें यह कहते हुए शर्म नहीं आती ! तुम्हें हो क्या गया है, मदन ? तुम मुझे इतनी जल्दी भूल गये ? इतनी जल्दी मैं तुम्हारी दृष्टि से गिर गयी ? यदि यही बात थी, तो तुमने मुझे नाहूँग की लहरों में क्यों न बह जाने दिया ?

[निमिष भर के लिए उसकी आँखों में देखती है और दीर्घ-निश्वास लेती है।]

— : ओह ! किसी कायर लुटेरे की तरह सन्देह तुम्हारी

आँखों में छिपा बैठा है। मैं नहीं जानती थी, तुम इतनी जल्दी ईर्ष्या का शिकार हो सकते हो। तुम समझते हो, उन लोगों का धन-ऐश्वर्य और सुख-आराम मुझे क्षण भर के लिए भी अपनी ओर खींच सकता है। तुम्हारे साथ मैं रास्ते की जड़ी-बूटियाँ खाकर निर्वाह कर सकती थी, सूखी-कठोर धरती पर सो सकती थी।

मदन : तुम्हारी इच्छा ! तो चलो।

(चलता है। माया वहीं खड़ी रहती है।)

माया : यों शहीद न बनो, मदन ! जाओ, जब एक बार सन्देह तुम्हारे मन में बैठ गया, तो चाहे मैं सीता की भाँति अग्नि-परीक्षा भी क्यों न दे दूँ, उसे अपने स्थान से न हटा सकूँगी। मुझे क्या मालूम था कि तुम्हारी स्वार्थपरता का एक दम उदारता से और बुराई का भलाई से बदल जाना भी स्वार्थ का ही दूसरा रूप था। जिस उद्दंड लड़की ने तुम्हें डाँटा था, उसे तुम अपने वश में देखना चाहते थे, अपने इंगित पर चलने वाली दासी देखना चाहते थे। मुझे खेद है, तुम्हें समझने में मैंने भूल की।

[मदन वहीं खड़ा रहता है। खेमे की ओर से रमेश आता है।]

रमेश : यह कहाँ की तैयारी कर ली आप लोगों ने ? मैंने सोचा था, हम आज प्रपात देखने चलेंगे।

माया : (जो रुक गयी थी, रमेश को देख कर फिर पग उठाती है, पर रमेश से दृष्टि नहीं मिलाती) हम आज जा रहे हैं !

रमेश : कहाँ ?

माया : अपने घर !

रमेश : पर रंगून में आपका घर तो......

माया : यह ठीक है कि रंगून में हमारा सर्वस्व नष्ट हो गया, पर देश में हमारे घर हैं, हमारी ज़मीनें हैं। और इस समय जब और सभी नाते टूट गये हैं, वे हमें बुरी तरह जकड़े हुए हैं।

रमेश : परन्तु अब तो मदन आ गये हैं, अभी कुछ समय और यहाँ रहतीं।

माया : हमें पहले ही देर हो गयी है। मैं आप की अत्यन्त आभारी हूँ। आप ने मेरे साथ इतना अच्छा बर्त्ताव किया है कि मैं उसे आयु-पर्यन्त न भुला सकूँगी।

रमेश : आप की बात तो नहीं कह सकता माया देवी ! आप ने तो जाते समय मुझसे मिलना भी उचित नहीं समझा, परन्तु मैं......

माया : मुझे भय था कि शंकर......

रमेश : (अपनी बात जारी रखते हुए) परन्तु मैं सचमुच आप का आभारी हूँ। मेरे मन के आकाश पर अन्धकार के अतिरिक्त कुछ न था, आप एक जगमगाते तारे की भाँति आयीं और एक झिलमिल-सा उजाला उस अन्धकार की नस-नस में दौड़ गया। मन के शून्य मन्दिर को एक देवी मिल गयी। मैं तो अपना समस्त जीवन उसकी आराधना में बिता सकता हूँ।

माया : (उसकी दृष्टि का सामना करने से कतराते हुए) हमें सुबह होते होते यहाँ से बहुत दूर निकल जाना है। मेरी

यही प्रार्थना है कि यदि मुझ से कोई भूल हुई हो, तो क्षमा कर दें। (उत्तर के लिए रुकती है। रमेश उत्तर नहीं देता, एकटक उसकी ओर देखता रहता है।) अच्छा नमस्कार ! (चलती है, फिर मुड़ती है) और शंकर जी से भी मेरी ओर से क्षमा माँग लीजिएगा।

रमेश : क्षमा ! (व्यंग्य से हँसता है) क्षमा ? (और भी ज़ोर से हँसता है) क्षमा ?

[निमिष-भर के लिए तीनों असमंजस की-सी दशा में खड़े रहते हैं। फिर सहसा माया चौंकती है।]

माया : अच्छा नमस्कार ! (मदन से) चलो !

[दोनों चलने को होते हैं कि शंकर की गरजती हुई-सी आवाज़ सुनायी देती है।]

शंकर : ठहरो !

[दोनों रुकते हैं। शंकर बन्दूक ताने दोनों की ओर बढ़ रहा है।]

रमेश : (घबराकर) शंकर !

(शंकर नहीं सुनता, बढ़े जाता है।)

— : शंकर, पागल न बनो ... शंकर !

[माया और मदन रुक जाते हैं। शंकर समीप आ जाता है और बन्दूक का मुँह मदन की ओर कर देता है। उसकी आँखे लाल हैं, बाल बिखरे हुए हैं और आकृति से बर्बरता टपक रही है। अनजाने में माया मदन को अपनी ओट में ले लेती है।]

शंकर : (दाँत पीसते हुए मदन से)— तुम्हीं हो, जो इसे मेरे कैम्प से भगाये लिये जा रहे हो !

मदन : भगाये......पर ये तो स्वतः मेरे साथ जा रही हैं।

[माया को जैसे गोली-सी लगती है। वह एक ओर हट जाती है। शंकर एक पग आगे बढ़ता है।]

शंकर : क्या बकते हो ?

मदन : पर मैं तो इन्हें यहाँ ठहरने के लिए कहता हूँ।

माया : (मुड़कर, अत्यधिक व्यंग्य-भरे स्वर में मदन से) मृत्यु क्या इतनी भयानक बन गयी तुम्हारे लिए; तुम्हारे प्रेम पर ईर्ष्या का क्या ऐसा घना पर्दा चढ़ गया कि अपने प्राणों को संकट में डाल कर जिसे मौत के मुँह से निकाल लाये, उसे एक बर्बर के हाथों सौंपते हुए तुम्हें तनिक भी झिझक नहीं होती !

[घृणा और व्यंग्य से माया के ओंठ विकृत हो जाते हैं। वह मदन के कन्धे से बन्दूक छीनने का प्रयास करती है।]

—: यह बन्दूक कन्धे से क्यों लगा रखी है यदि इसके प्रयोग का साहस नहीं तुम्हारे दिल में ?

[बन्दूक खींचती है। मदन बन्दूक नहीं छोड़ता। एक हाथ से बन्दूक खींचता है और दूसरे से उसे हटाता हुआ आगे बढ़ता है।]

मदन : (शंकर से) ये मुझ से प्रेम करती हैं। ये अपनी इच्छा से मेरे संग जा रही हैं।

माया : (बन्दूक को झटके के साथ मदन के हाथ से छीनते हुए, ओंठों को और भी विकृत करके) मतलब ? तुम मुझसे प्रेम नहीं करते। जाओ ! तुम अपने रास्ते चले जाओ इस बर्बर शिकारी से मैं स्वयं निबट लूँगी।

शंकर : (क्रोध से हुंकार भरते हुए) बर्बर !

[बन्दूक को उसकी ओर घुमाता है। माया पलट कर मदन वाली बन्दूक को लाठी की भाँति धरती पर टेक कर, सीना ताने, शंकर के सामने खड़ी हो जाती है।]

रमेश : माया देवी......शंकर !

मदन : माया !

माया : (हाथ से दोनों को हटाते हुए) जो पुरुष होकर, शक्तिशाली होकर एक थकी, बीमार, विवश स्त्री की विवशता का अनुचित लाभ उठाना चाहे, जो उसे बचा कर, वह एहसान करके, जो उस दशा में प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य होता, बदले में उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहे, वह कायर और बर्बर नहीं तो क्या है ? (शंकर से) बन्दूक उठाये हुए मुटर-मुटर क्या तक रहे हो ? दबाओ घोड़ा, बनाओ मेरे सीने को छलनी, दो अपने साहस का सबूत ! मैं किसी कायर हिरनी की तरह भागूँगी नहीं, तुम्हारी गोली का शिकार बनूँगी।

[शंकर मन्त्र-मुग्ध सा उस की ओर देखता रहता है। उसकी बन्दूक धीरे-धीरे नीचे आ जाती है। उसी प्रकार धीरे-धीरे माया बन्दूक उठाती है।]

माया : एहसान करके जताना अथवा उसका बदला माँगना उसका मोल घटा देता है। मैं तुम्हारी कृपा को भूली नहीं। भूल जाती, तो तुम इस प्रकार जीवित खड़े दिखायी न देते। उस दिन तुम मुझे शिकार करने की

शित्ता देना चाहते थे। देखो कि मुझे शिकार करना आता है या नहीं।

(बन्दूक तानती है।)

रमेश : (घबराकर) माया देवी !

माया : नहीं, यदि इस का शिकार करना होता, तो मैं उसी दिन इसे समाप्त कर देती, जिस दिन इसने मेरा अपमान किया था ; पर तुम लोगों ने मुझे मौत के मुँह से बचाया, मुझे सुख, आराम और स्वास्थ्य दिया। मैं तुम्हारी ऋणी हूँ।

[बन्दूक घुमाकर उस पत्थर पर निशाना साधती है, जिसे एक दिन शंकर ने पहाड़ी पर निशाने के रूप में रखा था।]

— : तुमने वह पत्थर मेरे निशाने के लिए रखा था न, देखो तो मुझे निशाना बनाना आता है या नहीं।

(बन्दूक दाग़ देती है, पत्थर गिर जाता है।)

— : मदन जिसे चाहता है, मैं वह असहाय अबला स्त्री नहीं जो हर समय पुरुष के आश्रय की आशा बाँधे, दासी की भाँति खड़ी रहती है। वह बीमार हिरनी भी मैं नहीं जिसे तुम लोग गोद में भर कर मनमानी करना चाहते हो।

रमेश : मायादेवी !

माया : मैं देवी भी नहीं, जो केवल अपने आसन पर बैठी रहे ! (मदन, और रमेश की ओर बारी-बारी से देखते हुए) तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुम में से किसी को आवश्यकता नहीं

[बन्दूक फेंक कर तीव्र गति से पगडंडी पर उतर जाती है ।]

मदन : (एक पग बढ़ाते हुए)—माया !

रमेश : (दो पग बढ़ाते हुए)—माया !!

शंकर : (बन्दूक को घुमा कर नीचे घाटी में फेंकते और भागते हुए) माया—माया—माया !!!

[उसके पीछे भाग जाता है । स्टेज पर एक दम अन्धकार छा जाता है ।]

—:o:—